श्रीजानकी परत्व प्रकाश

Edited by — Vishal Pandey

श्रीजानकी परत्व प्रकाश

भूमिजाचरण विन्यास लाक्षारञ्जित हृत्तटे ।
रामागणेश्वरं रामं प्रेम भाजोऽहमाश्रये ॥ १ ॥
सीताकल्पलतोत्तुङ्ग कुञ्ज गुच्छ विहारिणी ।
षट्पदे मधुराचार्य्यान् माधुर्य्यैश्वर्य्य मन्दिरे ॥ २ ॥

भगवती भूमिजा के लाक्षा रञ्जित चरणों के विन्यास से अनुरञ्जित हृदय तट में, रामागणों के ईश्वर श्रीराम में, माधुर्य तथा ऐश्वर्य के परिपूर्ण मन्दिर में, श्रीसीता कल्पलता के उत्तुङ्ग कमल गुच्छों में विहार करनेवाले भ्रमर मधुकर में मधुर भावना रखने वाले प्रेम भाजन आचार्यों का मैं आश्रय ग्रहण करता हूं ॥१-२ ॥

श्री वन्द्ये शरदिन्दु सुन्दरमुखि स्निग्धातिबिम्बाधरे
विद्युद्रुक्फलधौत कोमलरुचिश्यामे शुभे शोभने ।
नीलेन्दीवर लोचने सुललिते लावण्यलक्ष्मीलते
सद्गीते विशदे प्रसीद विदिते सीते मया संश्रिते ॥ ३ ॥

श्री जी के द्वारा वन्दनीय-शरच्चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली, अति स्निग्ध कोमल अरुण ओठ वाली, नील कमल के समान सुन्दर नयन वाली, लावण्य की लक्ष्मी स्वरूप, परम ललित लता के समान सज्जनों द्वारा जिनकी विशद् कीर्ति का गान होता है ऐसी हे श्रीसीते ! मैं आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ आप मुझ पर प्रसन्न हों ॥ ३ ॥

अन्यूनाधिक श्रीस्तनद्वयफले दिव्याङ्गरागाञ्चिते
रत्नालङ्कृतकान्तिकान्ततनुके सीमन्त शोभाधिके ।
सुभ्रूरायतचारुनेत्रनिटिले वक्राग्रनीलालके
नाशामौक्तिकमण्डिताधर पुटे सीते तवैवास्म्यहम् ॥ ४ ॥

परस्पर समान सुन्दर दो फलों के समान उरोज से सुशोभित-दिव्य अङ्गराग (उपटन) की सुगन्ध से भरपूर, सुन्दर भौंहों से अलंकृत मनोहर नेत्र वाली, मुख पर घूमकर आये हुए श्याम घुंघराले केशों से रमणीय रूपवाली, रत्नों से अलंकृत आभूषणों से विभूषित कान्तिपूर्ण कमनीय शरीर सौन्दर्य सम्पन्ना, सीमन्त की अधिक शोभा से सुशोभित, नाशामणि की चमक से चमकते हुए अधरपुटों वाली हे सीते ! मैं तो आपका ही हूं ॥ ४ ॥

सर्वस्मिन् मधुराभिभाषिणि दृढ़निर्बाधमाधूर्य्यभूर्
भव्ये भर्त्र्यनुरूपरूपभरिते निस्सीमसौन्दर्यभाक् ।
स्वेच्छापाङ्गदिशाचले चुलुकितं ब्रह्मानुभावेऽमले
पद्माक्षिप्रतिपद्मरागदशने वैदेहि सन्तुष्य मे ॥ ५ ॥

सभी के साथ मधुर वचन बोलने वाली, अविच्छिन्न माधुर्य की दृढ़ निधि, अपने परमसुन्दर पति श्रीराम के अनुरूप दिव्य रूप से परिपूर्ण, निस्सीम सौन्दर्य की एकमात्र भाजन, अपनी स्वेच्छा से केवल कटाक्षों द्वारा समस्त दिशाओं को भी चञ्चल कर देने वाली, जिनकी निर्मल महिमा के सम्मुख ब्रह्मानुभव भी चुल्लूभर के समान तुच्छ प्रतीत होता है, हे कमल-नयने! हे पद्मराग-मणि के समान अरुण प्रभा वाले दन्तों से शोभायमान हे वैदेही जू ! आप मुझ पर सन्तुष्ट हों ॥ ५ ॥

सौगन्ध्यौज्वल सौकुमार्य कलिता कोमल्यदा केलिदा
सङ्गीतामृत वर्षिणी प्रतिपदं प्रेयः प्रयासापहा ।
एणाक्षीस्वकटाक्ष कल्पितसुरैश्वर्यादिका शक्तिदा
यद्वन्द्या विबुधोत्तमोत्तम शिवाजाभ्यां जयेज्जानकी ॥ ६ ॥

जिनका स्वरूप दिव्य सुगन्ध, परम उज्ज्वल कान्ति और अत्यन्त सुकुमारता से युक्त होकर कोमलता तथा केलि-विलास का आनन्द प्रदान करता है; जिनका मधुर संगीत प्रत्येक क्षण अमृत की वर्षा करता है और जो अपने प्रियतम के समस्त श्रम का निवारण कर देता है; जिनके मृगनयनी प्रेमपूर्ण कटाक्ष देवैश्वर्य आदि दिव्य शक्तियाँ प्रदान करने वाले हैं; तथा जो देवताओं में श्रेष्ठतम शिव और ब्रह्मा द्वारा भी वन्दनीय हैं—ऐसी श्रीजानकीजी की सदा विजय हो ।

याश्लाघ्या विशदैः सदाशुभतमैर्नित्यैरनन्तैर्गुणैः
सर्वासुव्यपदेश्यतामभिगता या चाङ्गनास्वेकिका।
यालं पातुमशेषमेतदखिलात्संघाद् दृढादं हसां
सा मां पातु सकृत्प्रणाम वशगा श्रीरामरासेश्वरी ॥ ७ ॥

सर्वोत्तम, नित्य एवं अनन्त गुणों के कारण जिनके चरणों की सेवा सब करना चाहते हैं। सभी यही कहते हैं कि स्वामिनी हो तो ऐसी ही हो। इतना ही नहीं, ठीक ऐसा मानकर सर्वश्रेष्ठ अङ्गनाएँ भी जिनकी चरण-सेविका बन गई हैं। जिनकी कृपा-दृष्टि का अवलोकन सम्पूर्ण दुःखों के समुद्र पर वज्रपात जैसा दारुण प्रहार कर उनका निःशेष विनाश कर देता है। ऐसी, एक ही बार प्रणाम करने मात्र से ही प्रसन्न होकर वशीभूत हो जाने वालीं श्रीरामरासेश्वरी श्रीसीताजी सदैव मेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

यस्यै सिन्धुरमन्थ्य बन्धि च दिशां कीशामहीशाश्चयै
राहूता निहताश्च राक्षसगणः लङ्का कलङ्की कृता।
स्वास्थ्यं प्रापययैव साधुषु भयं त्रैलोक्यमोकश्च्युतं
सा नः साधयतु स्वकान् भगवती श्रीरामदेवीन्दिरा ॥ ८ ॥

जिनकी प्राप्ति के लिए प्रभु ने क्षीरसागर का मन्थन किया, समुद्र पर सेतु बाँधा, ऋक्ष-वानरों के राजाओं को एकत्रित किया, राक्षस-गणों का संहार किया, लङ्का को कलङ्कित किया, साधुजनों को निर्भय किया तथा त्रैलोक्य के अधिपति देवताओं को बन्धन से मुक्त किया। तब कहीं श्रीकिशोरीजी को प्राप्त कर श्रीराम स्वस्थ तथा सुखी हुए। वही श्रीरामप्रभु की इन्दिरा (महालक्ष्मी) अपने निज सेवकजन हम सबका कल्याण-साधन करें ॥ ८ ॥

सुश्रोणी च सुमध्यमा च सुनखी चार्वाङ्गिनी चारुदा
कामानामनुकम्पिनी च कमनीयाकारसंगोपिनीम्।
लीलामन्थरगामिनी च महनीया या जगन्मोहिनी
भूयान्मे हृदये प्रसन्नहृदया रामस्य सा भामिनी ॥ ९ ॥

जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग परम सुन्दर हैं, अतएव जो सुश्रोणी हैं; जो मध्य कटिभाग में भी अति सुन्दर सुमध्यमा हैं; जो सुन्दर चन्द्रमा के समान नखों वाली हैं; सुचारु सुन्दरियाँ जिनकी पूजा करती हैं; जो स्वयं सुचारु अङ्गों वाली हैं; जो सकाम भक्तों पर अनुकम्पा करने वाली हैं; जिनकी दिव्य काया अति कमनीय है; जो लीला-कौतुक में गजगति के समान धीरे-धीरे चलने वाली हैं; जो महानों की भी महान हैं तथा जो अखिल जगत को मोहित करने वाली हैं — वे श्रीरामजी की प्राणवल्लभा एवं प्रसन्नहृदया श्रीसीताजी हमारे हृदय में सदैव निवास करें ॥ ९ ॥

आस्ते धामिनि राम वाम दिशि या भक्ताश्रया भेजुषां
वह्नौ वारि रवौ च खे भुवि सतां चित्ते च चन्द्रेऽम्बुजे।
यादोषा जगदीश्वरी त्रिजगतां स्थेम्ने सदेयं सती
सीता नः शरणं तमोन्ततरणिर्ज्ञानाग्नि रम्यारणिः ॥ १० ॥

जो दिव्य धाम में श्रीराम के वामाङ्ग में विराजमान हैं, जो भजन करने वाले भक्तों का परमाश्रय हैं, जो अग्नि, जल, सूर्य, आकाश, पृथिवी, चन्द्र, कमल, जल तथा सज्जनों के चित्त में निर्दोष एवं निर्विकार स्वरूप से विराजमान हैं; जो त्रिभुवन को सदैव स्थिरता प्रदान करने वाली महान् सती हैं—वे अन्तःकरण के अन्धकार का नाश करने वाली सूर्यस्वरूपा तथा ज्ञानरूपी अग्नि को प्रज्वलित करने वाली अरणि के समान श्रीसीताजी हम सबकी एकमात्र शरण (आश्रय) हों ॥ १० ॥

स्याद् यत् कारितमेव सर्वममृतं कैङ्कर्य मात्मार्चितं
तां भक्तिं परमां परां च परमं ज्ञानं च तन्मे दिश।
अस्त्येतत् त्वदधीनमेव सकलं साकेतनाकेश्वरिं
प्राणेशीत्यभिधीयसे रघुकुलश्रीचन्द्र-कीर्ति-विभाः ॥ ११ ॥

जिसके रहने से हम जो कुछ भी करें वह सब कुछ अमृतमय हो जाता है, हमारे सब कार्य आप की पूजा स्वरूप कैंकर्य सेवा हो जाते हैं, ऐसी परम प्रेम रूपा परा भक्ति तथा ऐसा परम ज्ञान आप कृपा कर हमको प्रदान कीजिये। क्योंकि ऐसा हो जाना सब कुछ आपके ही अधीन है, हमारे वश की बात नहीं है। हे श्रीसाकेत धामेश्वरी ? आप श्रीराम की प्राणेश्वरी

हैं, तथा आप रघुकुल के श्रीचन्द्र स्वरूप श्रीराम की कीर्तिरूपी किरणों को प्रकाशित करने वाली हैं ॥ ११ ॥

श्रृङ्गारादि रसाश्रयं च चरितं रामायणं ते विदुः
सन्तानाख्यमशोक नामकवनं स्थानं विहर्तुं च ते।
सर्वेशस्त्वदधीन सर्व विभवानन्दोत्सवं चेश्वराः
किन्नान्यत् तव भूमिनन्दिनि भयेद् भागोपकारक्षमम् ॥ १२ ॥

श्रृङ्गारादि नवरसों का भण्डार श्रीरामायण आपका ही दिव्य चरित्र है। सन्तानाख्य अशोकवन आपकी विहारस्थली है। सर्वेश्वर परब्रह्म श्रीराम आपके प्रेमाधीन हैं। समस्त वैभव तथा आनन्दोत्सव आपके ही आश्रित हैं। संसार में ईश्वर कहलाने वाले देवता भी आपकी कृपा की अभिलाषा रखते हैं। तब, हे श्रीभूमिनन्दिनी! ऐसी कौन-सी भोग्य वस्तु है जो आपको सहज ही सुलभ न हो? ॥ १२ ॥

त्वल्लाभेन निजानुजानुग सुहृन्मित्रादि लोकक्रमात्
सर्वे लाभमशेषकर्मकतया शेषस्य श्रेणी स्वयम्।
हानिं त्वद् व्यतिरेकतश्च भगवान् कान्तो हि ते मन्यते
तत् त्वामेव भजे विजेन भजतां भाव्यावधिं भो कुजे ॥ १३ ॥

आपकी प्राप्ति ही समस्त लाभों में सर्वोत्तम लाभ है तथा आपकी अप्राप्ति ही सम्पूर्ण हानियों में सबसे बड़ी हानि है—ऐसा आपके प्राणपति, शेष के भी शेषी भगवान् श्रीराम स्वयं मानते हैं। इसी प्रकार आपके लाभ में ही प्रभु अपना, अपने परिकर-पार्षदों का, अनुज भ्राताओं का तथा समस्त सगे-सम्बन्धियों और स्नेही मित्रों का परम सुख मानते हैं। ऐसी महान् सुखस्वरूपिणी, सबके द्वारा भजनीया तथा भव्य भावनाओं की पराकाष्ठा-स्वरूपा हे भूमिनन्दिनी! मैं आपका भजन करता हूँ ॥ १३ ॥

औदार्यं परमं दया च परमा क्षान्तिः क्षितेरप्यलं
स्वाकारत्रयमेतदक्षयतनु श्रुत्यादिसिद्धं तव।
एषामीश्वरिकस्यचिद्विषयतां लभ्यां लभे यामलां
या लब्धाधम जन्मजातिचरितैरप्यादि देवि प्रिये॥ १४॥

परम उदारता, अत्यन्त करुणा, पृथिवी से भी अधिक सहनशीलता, क्षमा तथा आकारत्रय—(प्रभु का ही मैं अनन्य शेष हूँ, प्रभु ही मेरे एकमात्र पूज्य हैं तथा प्रभु का ही मैं भोग्य हूँ, अन्य किसी का भोग्य नहीं हूँ)—इस रहस्य का स्वरूपज्ञान कराने वाले ये सभी दिव्य गुण आपके दिव्य तनु में श्रुति-स्मृति-वचनों द्वारा सुप्रसिद्ध रूप से अखण्ड एवं अक्षय निवास करते हैं। हे परमेश्वरी! इन दिव्य गुणों में से मैं भी किसी एक गुण का कृपाभाजन बन जाऊँ, ऐसी कृपा करें। क्योंकि जब आप स्वयं परम निर्मल होकर भी मुझ जैसे अधम जन्म, अधम जाति तथा अधम कर्म करने वाले को भी अपना लक्ष्य बना लेती हैं, तब हे देवि! हे रामप्रिये! आपके इन दिव्य गुणों का प्रसाद हम लोगों को भी अवश्य प्राप्त होना चाहिए॥ १४॥

रम्याङ्गिः त्वदपाङ्गमेव मनुते कान्तोऽमृतं नामृतं
तस्याशेष विशेष युक्त जगतां भर्तुर्यदेवामृतम्।
दासानामपि नस्तदेव सुहितं दास्ये सदा तस्थुषां
निर्विघ्नैः सुमृदुत्सवैस्तु भवतो रेवोत्सवा नः परे॥ १५॥

हे रमणीय कोमलाङ्गी! आपके कान्त श्रीराम अमृत को भी अमृत नहीं मानते; वे आपके सङ्ग में रहना ही देवामृत से भी अधिक प्रिय समझते हैं। यही बात समस्त जगत के लिए भी परम हितकर है, क्योंकि सदैव दास्यभाव में स्थित रहने वालों को निर्विघ्न भगवदीय आनन्दोत्सव का परमोल्लास आपकी ही कोमल कृपा से प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई आधार है ही नहीं॥ १५॥

यावन्तस्तव सत्स्तवस्तवकभूग् भुमेस्तनूजे चिराद्
व्यापाराः स्वपरप्रयोजन पराः भर्तुश्च ते सर्वदे।
निस्सीमामर भाव भावकतया सर्वेऽपि ते सर्वदा
सिद्धा शुद्ध सुधैव साधु विदिता स्वाद्य प्रसाद्यावधेः ॥ १६ ॥

हे भूमिसुते! आपके जितने भी सुन्दर स्तोत्र हैं, वे सभी अत्यन्त तेजस्वी हैं। उसी प्रकार अपने लिये तथा परोपकार के लिये आपके एवं आपके प्राणपति द्वारा सम्पन्न किए गए सभी कार्य निस्सीम और अमर भावना से परिपूर्ण हैं। हे सर्वस्वदान देने वाली, दानियों में शिरोमणि! आपके वे समस्त कार्य शुद्ध सुधाधारा के समान निर्मल, साधुजनों के लिए सुविदित, सदैव परम सुस्वादु तथा प्रसन्नता की पराकाष्ठा-स्वरूप हैं ॥ १६ ॥

रोचन्तामिह मे चिरन्तन तनोश्चार्वङ्गि चारुस्मिते
सर्वाण्येवहि चेष्ठिता च चपलापाङ्ग्यास्तवापाङ्गतः।
यान्यालम्व्य विलम्बितालकभुजाम्भोजाक्षि दाक्षिण्यभू
भर्ता जीवति जीवलोक जनको जीवैक जीवातुकः ॥ १७ ॥

हे सुन्दराङ्गी! हे मधुरमन्दस्मिते! आपके श्रीअङ्ग में चिरकाल से विराजमान चपलता, सुन्दरता, ललित चेष्टाएँ आदि सभी हमें अत्यन्त प्रिय लगती हैं। हे कमलनयने! हे चातुर्य की निवासभूमि! आपके वे अन्य सभी दिव्यानन्दप्रद गुण भी, जो आपका अवलम्बन लेकर विराजमान हैं, हमें परम प्रिय हैं। हे समस्त जीवलोक को शरण प्रदान करने वाली! उन्हीं के आधार पर आपके भर्ता का भी जीवन है; फिर वे किस जीव को जीवनदान नहीं देते? अर्थात् समस्त जीवों का जीवन भी आप ही हैं ॥ १७ ॥

गन्धर्व्यः कुशलाः कलास्वशिथिलाः किन्नर्य्यमर्यान्विता
विद्याधर्य्य युतैः समं च मनुजा कोटीभिराटीकिताः।
सेवन्ते सततं परः शतशती कोट्यश्च यां जानकीं
सेवे या पुनरागते पुनरिमां सेव्यावधिं शेवधिम् ॥ १८ ॥

गानविद्या में कुशल गन्धर्वियाँ, अपनी कला में कहीं भी भूल न करने वाली सदैव सावधान किन्नरियाँ, विद्याधरियाँ तथा परम चतुर लाखों-करोड़ों मानवियाँ एकत्र होकर श्रीजानकीजी की सेवा करती हैं। सेवा करके लौट जाने पर भी वे सन्तुष्ट नहीं होतीं, अपितु पुनः-पुनः सेवा के लिए उपस्थित हो जाती हैं। ऐसी सेव्यस्वरूपों में परमश्रेष्ठ, कल्याण की पराकाष्ठा-स्वरूप आपकी सेवा हमको भी प्राप्त हो—यही हमारी बारम्बार प्रार्थना है ॥ १८ ॥

आविश्वस्य सुखागतौ रघुपतेरेकैकमङ्गं ह्यलम्
यस्या आलभतेऽमुमेव हि समम् तैस्तैरनर्घ्यैः शुभैः।
यद्योगादुपरि प्रतिष्ठितमहो भाग्यं भगेभ्यो मुदे
सात्वंजः सुरसुन्दरीप्सितयशः सौभाग्यरूपेह नः ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण विश्व को सुख से परिपूर्ण कर देने के लिए श्रीरघुनाथजी के एक-एक अङ्ग का दर्शन ही पर्याप्त है। ऐसे श्रीरामभद्र प्रभु भी परमानन्द की प्राप्ति के लिए जिनका आलिङ्गन करते हैं, आपके वे सभी गुण परम शुभ, निर्दोष एवं निर्मल हैं। जिनके संयोग से सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से भी बढ़कर भगवान् का अहोभाग्य सुप्रतिष्ठित माना जाता है। आप वही हमारी इष्टदेवता हैं, जिनका सुयश और सौभाग्य सुरसुन्दरियों में भी अभिलाषा उत्पन्न करने वाला है ॥ १९ ॥

दुःखानि त्वदुपेक्ष्य यैव कुदृशां कल्प्यन्त इत्याकलं
सौख्यानि त्वदपेक्षयैव सुदृशां दृश्यन्त एतादृशम्।
पूर्वासामपि माकरोतु विषयं कुर्य्याच्च मामंति मे
त्येवं प्रार्थ्यस एव रामरमणि त्वां सम्पदां स्वामिनीम् ॥ २० ॥

कुत्सित कर्म करने वालों की जब आप उपेक्षा कर देती हैं, तभी वे तत्काल दुःखों के सागर में डूबने लगते हैं। उसी प्रकार जब आप सज्जन पुरुषों पर अपनी सुदृष्टि डालती हैं, तब उन्हें चारों ओर आनन्द ही आनन्द दिखाई देने लगता है। हे अम्ब! उन पूर्वोक्त दुर्जनों के समान हमारी उपेक्षा न कर, उन सज्जनों के समान हम पर भी अपनी सुदृष्टि बनाए रखें। हे रामरमणी! हे सर्वसम्पदाओं की स्वामिनी! आपके चरणों में हमारी यही विनीत प्रार्थना है ॥ २० ॥

सर्वासामविशेषतश्चिदचितां चिन्त्यामचिन्त्याद्भुते
सत्तामाहुरसत्वराः सुमनसो श्रीरामचन्द्राश्रयाम्।
त्वामेवाश्रयतेऽस्य तु प्रतिपदं सत्तादि सर्वं यतः
सेव्या सा च ततस्त्वमेव जनकाम्भोधि प्रसूते प्रसूः ॥ २१ ॥

चित्, अचित्, चिन्त्य, अचिन्त्य तथा अद्भुत—समस्त प्रकार की सत्ताएँ श्रीरामचन्द्रजी की ही आश्रयभूता हैं, ऐसा सुबुद्धि-सम्पन्न विद्वानों ने तत्काल कह दिया है। परन्तु चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म भी पग-पग पर आपका ही आश्रय ग्रहण करता है, क्योंकि सर्वेश्वर की सम्पूर्ण सत्ताओं की अधीश्वरी तो आप ही हैं। अतः, श्रीजानकीजी के प्रेमसमुद्र से उद्भूता हे महालक्ष्मी! हमारे लिए तो केवल आप ही परम सेव्या हैं ॥ २१ ॥

ऐश्वर्यं परमं निरन्तर महानन्दाम्बुधौ ते प्रिये
माधुर्य्यं त्वयि चानुपद्ध्यनवधि बाध्याद्य वाध्यत्विषि।
आभ्यां वां मिथुनं समन्वित महोहर्षाश्रु धारादिकम्
कुर्यात्कस्य न चेतनस्य विदुषो शेषोत्सवं जानकी ॥ २२ ॥

महान् आनन्द के सागर में निमग्न कर देने वाला आपका परम ऐश्वर्य, समस्त व्याधियों एवं उपाधियों से रहित आपका अप्रतिम माधुर्य तथा आप दोनों युगल प्रभु का सम्मिलित लीला-विहार—इनका दर्शन करके ऐसा कौन-सा विद्वान् एवं चेतन पुरुष होगा, जिसका हृदय आनन्द से द्रवित न हो जाए और जिसकी आँखों से प्रेमाश्रुओं की धारा न बहने लगे? अतः, हे परमप्रिय श्रीजानकीजी! आपकी सदा जय हो ॥ २२ ॥

पत्युस्ते परमेश्वरस्य परमो सागस्सुकोपोवली
त्वद्भङ्ग्या परिपोषितेषु च यतस्तेषु प्रसादोप्यलम्।
कोप्यश्चेत्तव कोपराव कुपिता प्राणप्रिये प्रेमदे
त्राणं त्वच्चरणं व्रजामि शरणं सीते विगीते ततः ॥ २३ ॥

आप अपने प्राणपति परमेश्वर श्रीराम के साथ केलि-कौतुक करते समय कभी-कभी प्रणय-कोप का प्रदर्शन करती हैं। उस समय मान-लीला भी चलती है; किन्तु अगले ही क्षण आपकी प्रेमभरी मन्द मुस्कान और मनोहर भावभङ्गी का दर्शन कर, आपके प्रसाद का परिपोषण पाकर प्रभु परम आनन्दित हो उठते हैं। तब आपकी दयादृष्टि के बिना ऐसा कौन है, जिसे कहीं और जाकर परित्राण प्राप्त हो सके? अतः, हे प्राणप्रिये! हे प्रेमप्रदे! हे सीते! मैं आपके चरणों की शरणागति ग्रहण करता हूँ॥ २३॥

पश्यन्नप्यनिमेष एव भवती सर्वानुभूतिः सदा
सीते नित्य निजानुभूति परमोप्येकान्त भावांप्रियः।
तृप्तिं नैति यदत्र हेतुरुचितो नाल्पत्वमंगाः श्रियां
किं त्वानन्त्य नवीन ते प्रतिकलं कामित्वमप्यस्य च॥ २४॥

अनिमेष (देव) न होते हुए भी एकान्तभावप्रिय प्रभु आपके स्वरूप का दर्शन करके अनिमेष हो जाते हैं; अर्थात् वे आपको अपलक निहारते रहते हैं और उनके नेत्रों की पलकें तक नहीं झपकतीं। जो स्वयं सर्वानुभूति-सम्पन्न, निजानुभूत आत्मानन्द में सदैव परम तृप्त रहने वाले हैं, उन्हें भी जब आपके दर्शन से पूर्ण तृप्ति नहीं होती, तब इसके पीछे अवश्य ही कोई गम्भीर कारण है। यह किसी अल्प श्री या सामान्य सौन्दर्य का परिणाम नहीं, अपितु आपके उस अनन्त आनन्दप्रद, नित्य-नवीन तथा प्रत्येक क्षण दर्शन की अभिलाषा को और अधिक बढ़ाने वाले दिव्य स्वरूप का ही अद्भुत प्रभाव है॥ २४॥

अन्वेवमविकाशिनीं सकणिके धत्से धरोत्थे च यत्
कान्तस्याप्यमृताङ्ग संहति रुचोर्पीप्सोरपि त्वां सदा।
कामाग्निः ज्वलितावलोकन भयात् तत् किं शशाङ्कस्मिते
जानात्येव तव प्रभावमनलः कामानलः किं खलः॥ २५॥

हे धरणिजे! आप अपने प्राणेश्वर के अमृतमय श्रीअङ्गों का संस्पर्श प्राप्त करने के लिए उन्हें अपने उन्नत हृदय से सदा आलिङ्गन करती हैं। यह आलिङ्गन कभी भी जलती हुई कामाग्नि के भय से नहीं हो सकता, क्योंकि आपके प्रभावरूपी प्रचण्ड अनल की भयङ्करता को स्वयं कामानल भी भली-भाँति जानता है। तब, हे चन्द्रवदने! वह दुष्ट कामानल आपका क्या ही

अनिष्ट कर सकता है? अर्थात् आपका मात्र स्मरण ही कामानल से उत्पन्न समस्त व्यथा का शमन करने में परम समर्थ है; फिर वह आपके सम्मुख दृष्टि उठाकर देख भी कैसे सकता है? ॥ २५ ॥

दह्येतस्मर वह्निनावनिसुते कान्तोनितान्तं न चेद्
वर्तेथाः हृदयेऽस्य जात्वपि जगज्जीवातु भूतस्थिते।
दह्यन्ते दुरिताग्निनेह खलु ते येषां हृदि त्वं न यत्
तस्माद्योगि भिराहितासि हृदये हार्देश्वराह्लादिनी ॥ २६ ॥

यदि ऐसा न होता, तो हे धरणिनन्दिनी! आपके प्राणपति स्वयं तो कामाग्नि से दग्ध होते ही, उनके अन्तर्यामी स्वरूप में स्थित समस्त भूत-प्राणियों सहित यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी दग्ध हो जाता, यदि आप उनके हृदय में विराजमान न होतीं। इसी कारण, हे ईश्वर को भी आह्लाद प्रदान करने वाली! योगिजन आपको सदैव अपने हृदय में धारण किए रहते हैं ॥ २६ ॥

केऽयं ते वदनाम्बुजे जनकजे स्वर्लाप कल्पोपरि
नव्यानल्प रसोत्सवावलिकरी निश्शल्य शैलीसुवाक्।
यां श्रोतुं सरसः पुनः पुनरहो श्रेयान्प्रसङ्गोत्तरै
स्त्वां स्तौति स्व सरस्वती सुविदिता श्रीमैथिली त्वां भजे ॥ २७ ॥

हे जनकात्मजे! आपके मुखकमल में ऐसा कैसा मधुर स्वरालाप विराजमान है, जो स्वर्ग की सुन्दरियों को भी लज्जित कर देता है, नवीन आलियों के हर्ष-रसोत्सव की परम्परा को निरन्तर प्रवाहित करता है तथा हृदय के समस्त शूलों का हरण कर लेता है। उसी मधुर वाणी का श्रवण करने के लिए आपके प्रियतम श्रीराम पुनः-पुनः प्रश्नोत्तर द्वारा वार्तालाप की सरसता को बढ़ाते रहते हैं, और स्वर्गीय सरस्वती भी आपकी स्तुति करती रहती हैं। ऐसी सुप्रसिद्ध श्रीमैथिलीजी ! मैं आपका भजन करता हूँ ॥ २७ ॥

वागीशाद्यनवद्य सौभगयशो वक्तुं प्रविष्टायिते
सौन्दर्य्यातिशयैक दर्शन भवप्रेमाविशालाक्षि सा।
ज्ञातुं द्रष्टुमपीश्वरी न भवती पादप्रसादैषणी
तुष्णीमेव नमस्करोति च हृदा त्वां स्तौति सीते शनैः ॥ २८ ॥

वागीश्वरी सरस्वती आपके सौभाग्य, शील आदि दिव्य गुणों का वर्णन करने के उद्देश्य से बड़े गौरव के साथ आपके महल में प्रविष्ट हुईं। किन्तु जैसे ही उन्होंने अपने विशाल नेत्रों से आपके लोकविलक्षण, अतिशय दिव्य सौन्दर्य का दर्शन किया, वैसे ही वे उसके यथार्थ स्वरूप का वर्णन करना तो दूर, उसका पूर्ण अवलोकन करने में भी स्वयं को असमर्थ अनुभव करने लगीं। तब आपके श्रीचरणों का प्रसाद प्राप्त करने की अभिलाषा से वे मौन हो गईं और हृदय में ही धीरे-धीरे, चुपके से आपकी स्तुति करती हुई श्रद्धापूर्वक आपको नमस्कार करने लगीं ॥ २८ ॥

त्वत्सौन्दर्य निरन्तरेक्षण रस प्राणात्मसंजीवनी
निद्रां नेति यदीश्वरस्तव विना तद्योगनिद्रेति सा।
द्रष्टुं त्वच्चरणश्रियं यहिसमुत्कण्ठेत को मैथिलीं
क्षुद्रानन्दतया प्रसिद्धिमगमन्नन्येऽनुकूलास्ततः ॥ २९ ॥

अपनी प्राणस्वरूप आत्म-सञ्जीवनी आपके सौन्दर्य के निरन्तर निरीक्षण-रस के पान में मग्न परमेश्वर श्रीराम आपके बिना सुखपूर्वक निद्रा भी ग्रहण नहीं करते। इसी कारण प्रभु की निद्रा को लोग 'योगनिद्रा' कहते हैं, क्योंकि वह भी आपके श्रीचरणों की शोभा के अवलोकन का ही एक दिव्य प्रसंग है। हे श्रीमैथिलीजी! ऐसे आपके श्रीचरणों की शोभा का दर्शन करने के लिए कौन अभागा उत्कण्ठित न होगा ? इसी से आपकी कृपासुख की प्राप्ति के बिना संसार के महान् से महान् सुख भी 'क्षुद्रानन्द' नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं, जबकि आपकी अनुकूलता से प्राप्त होने वाला सुख ही वास्तविक 'परमानन्द' कहा गया है ॥ २९ ॥

वस्तुतः आपके श्रीचरणों का आश्रय ही समस्त दिव्य आनन्द का मूल स्रोत है, क्योंकि आपकी कृपा से ही भगवान् की अनुग्रह-दृष्टि सहज सुलभ होती है।

सर्वे धर्म मुहुर्यतः सहृदया सन्तो गुणाश्चामलान्
वैमुख्यं पदपद्मयोस्तव मम स्वप्नेऽपिमा भूदतः।
भर्तापि त्वद्दर्शनेन विदुषां सेव्योऽपि दुःखी भवे
न्नान्यः कः पृथिवी सुतेऽञ्जलिरियं तुभ्यंकृतस्तन्मया॥ ३०॥

आपके स्मरणमात्र से ही सभी धर्म धीरे-धीरे स्वयं हृदय में प्रकट हो जाते हैं तथा सहृदय सन्तों के निर्मल सद्गुणों का भी उदय हो जाता है। अतः आपके युगल श्रीचरणकमलों से विमुखता स्वप्न में भी मेरे हृदय में कभी न हो। क्योंकि आपके दर्शन के बिना सर्वसन्तजन-सेव्य आपके भर्ता श्रीरामजी भी दुःखी हो जाते हैं; तब संसार में ऐसा कौन है, जो आपके चरणाश्रय का त्याग करके सुखी रह सकता है? अतः, हे पृथिवीकन्या श्रीजानकीजी! मैं बारम्बार हाथ जोड़कर यही प्रार्थना करता हूँ कि आपकी अविचल भक्ति मुझमें सदा बनी रहे॥ ३०॥

वैदग्ध्यं नृषु गोपितं तव भवेदज्ञान मुग्धेषु यत्
तस्मात्सेवितमिष्यसेप्यविदुषामानन्द मुग्धा सती।
सौलभ्यं तत एव सेवनविधावागः क्षमाप्येषु ते
रामस्याश्रयणोचितामृत गुणांभोधेः प्रमोदोदये॥ ३१॥

आपने अपना भोलापन नरलीला-नाट्य में गुप्त रखा है, जिसे मुग्ध (मूर्ख) जन अज्ञान मान लेते हैं। इसीलिए आनन्दमुग्धा होने पर भी आप अज्ञानी लोगों के उद्धार की भावना से उनके बीच रहना स्वीकार करती हैं। यही कारण है कि अत्यन्त दुर्लभ होते हुए भी आप परम सुलभ हो गई हैं। आपकी यही क्षमाशीलता हमारी सेवा-साधना में परम सहायक बन गई है। हे माँ! आप श्रीरामजी के आश्रय के योग्य अमृतमय गुणों की महान् सागर हैं तथा उनके प्रमोदानन्द का उदय करने वाली हैं॥ ३१॥

मुग्धाया श्चरितैरपेतदुरितैस्तुच्छीकृतान्योत्सवै
र्विद्वांसोऽपि सुनिश्चितार्थ निचयाः सर्वेऽपिमुग्धीकृताः।
सर्वज्ञः स्वत एव सर्व सुशकः शेषेष्वमीषां पतिर्
नीतिस्ते सुविधेयतां वसुमती पुत्रि प्रभावान्नते॥ ३२॥

समस्त पापों का नाश करने वाले, अन्यान्य आनन्दोत्सवों को तुच्छ सिद्ध कर देने वाले तथा मन को मुग्ध कर लेने वाले आपके विचित्र चरित्रों ने वेद-वेदान्त के सुनिश्चित तत्त्वों को जानने वाले विद्वानों को भी विमुग्ध बना दिया है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा अनन्त चेतन प्राणियों के एकमात्र शेषी (स्वामी) हैं, हे वसुमतीपुत्रि! उन भगवान् को भी आपने अपना आज्ञाकारी बना रखा है। तब आपके इस अद्भुत प्रभाव और महिमा की उन्नति का यथार्थ वर्णन कौन कर सकता है? ॥ ३२ ॥

यद्यद् दृष्टमनिच्छयापि सद्दृशासीते त्वयातत्क्षणात्
स्याद्देवा मृतमेव देवरुचिरं तत्तत् सदभ्यर्हितम्।
युक्तं पादरजःकणेन किमुत स्वीकार्यतागोचरं
यत् यत्स्यान्ममतास्पदंतवसतां तन्मूर्द्धरत्नं न किम् ॥ ३३ ॥

हे सीते! आप बिना किसी विशेष इच्छा के ही अपने स्वाभाविक सहज भाव से जिस-जिस वस्तु पर दृष्टि डाल देती हैं, वह उसी क्षण देवताओं को भी रुचिकर लगने वाली अमृतमयी बन जाती है, और सज्जनजन भी उसका आदर करने लगते हैं। तब जो कोई आपके श्रीचरणों की रज-कण से पवित्र हो गया हो तथा आपके सान्निध्य में निवास करने का सौभाग्य प्राप्त कर चुका हो, उसका ममतास्पद, रसमय और आनन्दमय बन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥ ३३ ॥

या देव्याः प्रमितंगता वररुचोऽचिन्त्यप्रभावास्तु ता
यावत्शक्ति पदाभिधानविषयाः शास्त्रप्रसिद्धाश्च ताः।
त्वत्पादाम्बुज सेवनैक सुभगा भूतिद्वय स्वाम्यभाग्
भुज्यन्ते जगदीश्वरैः स्थिरतरैस्त्वत्पादपद्मालिभिः ॥ ३४ ॥

हे देवि! जो आपके हो गए, जिनकी श्रेष्ठ रुचि आपकी सेवा में स्थिर हो गई, वे अचिन्त्य प्रभावशाली बन गए, क्योंकि उनकी शक्ति आपके साथ संयुक्त हो गई। यह तो सुप्रसिद्ध सत्य है कि जिन्होंने आपके चरणारविन्द की सेवा का सौभाग्य प्राप्त कर लिया है, वे विभूति-द्वय के स्वामित्व के भागीदार बनकर आपकी चरणारविन्द-सेविकाओं के साथ जगदीश्वरों के स्थिर एवं दिव्य वैभव का सुखोपभोग करते हैं। वस्तुतः आपके चरणों की सेवा ही

समस्त आध्यात्मिक सम्पत्तियों का मूल कारण है। आपकी कृपा से ही जीव में दिव्य सामर्थ्य, भगवदनुराग तथा नित्य सेवाधिकार का उदय होता है ॥ ३४ ॥

त्वत्स्वीकारबलाद्भवन्तु भगवाँ स्त्वामश्नुते राघव
स्वीकारेण न जायते किमपि ते न्यौन्यं महिम्नि परे ।
जाने जानकि भुज्यसे सुसरसा सर्वाङ्गना स्वामिनी
श्रृङ्गारेनिरपेक्ष्यताप्यनुचिता पूर्तेस्तु वै देशिकैः ॥ ३५ ॥

आपको स्वीकार करने का परम सौभाग्य प्राप्त करके ही भगवान् श्रीराघवेन्द्र प्रभु आपके सान्निध्य-सुख का अनुभव करते हैं; किन्तु उनके द्वारा स्वीकार किए जाने से आपकी परमोत्कृष्ट महिमा में किंचित् भी अन्तर नहीं पड़ता। हे श्रीजानकीजी! हम यह भली-भाँति जानते हैं कि आप अपने सुन्दर, रसमय भाव से प्रियतम के प्रेमरस का आस्वादन करती हैं। आप समस्त अङ्गनाओं की स्वामिनी हैं, क्योंकि श्रृङ्गार-रस में प्रियतम के प्रति निरपेक्षता का भाव सर्वथा अनुचित माना गया है। अतः परस्पर प्रेम, अनुराग और रस की पूर्णता ही श्रृङ्गार-रस की सिद्धि है—यही समस्त आचार्यों का अभिमत है ॥ ३५ ॥

आनन्दोऽस्यकिमु त्वदेक शरणः स्यात्सत्त्वदीयः किमु
श्रीरामैक निबन्धनो निरवधिर्जातु स्वतन्त्रो न सः ।
दाम्पत्यं कथमन्यथा न वितथं स्याद्वेदवेद्यं हि तत्
यद्वास्यास्तद वच्छिदा स्वविधया सीतेत्वमेव स्वतः ॥ ३६ ॥

श्रीराम का आनन्द क्या आपके ही अधीन है, अथवा आपका निस्सीम आनन्द क्या उनके अधीन है—यथार्थतः दोनों का आनन्द किसी एक के अधीन अथवा स्वतन्त्र नहीं है। परस्पर एक-दूसरे के अविच्छिन्न सम्बन्ध से ही उनके दाम्पत्य-सुख की अखण्डता बनी रहती है। तथापि, जिसके मधुर हास्य और प्रेममयी मुस्कान से दोनों का आनन्द पूर्णतः एकरस होकर अभिव्यक्त होता है, वह तो, हे सीते! आप ही हैं ॥ ३६ ॥

धत्तेरूपमदभ्रयद्धि भगवान् लोकोपकारेच्छया
तेनैव त्वमपीह भौमि भवसि स्वातन्त्र्य भङ्गोऽत्रकिम्।
अन्योन्याश्रयणं न दूषणमिदं तर्कातिगौ यद्युवा
मन्योन्यं समतां गतौकुल तुलामप्यागतौ सद्गुणैः ॥ ३७ ॥

आपके पति लोककल्याण के लिए जब-जब जैसा स्वरूप धारण करते हैं, तब-तब, हे भूमिनन्दिनी! आप भी उनके अनुरूप वैसा ही स्वरूप धारण कर लेती हैं। इससे आपकी स्वतन्त्रता का किसी प्रकार भङ्ग नहीं होता। क्योंकि आप दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय कोई दूषण नहीं, अपितु परम भूषण माना गया है। आपकी यह परस्पर समता तर्क से परे है, और तुला पर तौले गए आपके सद्गुण सदैव समरूप एवं सुप्रकाशित रहते हैं ॥ ३७ ॥

भेदे सत्यपि तात्विके तव ततस्तत्वामृता सारदे
त्वद्रूपौषध यंत्रमंत्र वशगो विश्वप्रियस्त्वन्मयः।
पश्यत्यस्यतु संभ्रमं जनयसि स्वीयैर्विलासैर्यतः
तस्मादस्य विलासिनी त्यजसि तेहामुत्र चेलात्मजे ॥ ३८ ॥

आपमें तथा प्रभु में यद्यपि तात्त्विक भेद नहीं है, तथापि आपके स्वरूप-सौन्दर्यरूपी तान्त्रिक औषधि, यन्त्र और मन्त्र का प्रभाव कुछ ऐसा है कि विश्वात्मा प्रभु भी आपके वशीभूत रहते हैं। जब वे आपका दर्शन करते हैं, तब आप ऐसा प्रेममय सम्भ्रम उत्पन्न कर देती हैं कि वे आपके हास-विलास में ही पूर्णतः तन्मय हो जाते हैं। अतएव, आप इस लोक में भी और परमधाम में भी उनकी परम विलासिनी हैं। हे पृथिवीकुमारी! हम तो ऐसा ही जानते हैं ॥ ३८ ॥

श्रृंगारस्य महोत्सवस्य च मुदासिद्धैर्निधेः सम्पदां
रागस्योत्तम लक्षणं च महसां भाग्यस्य पूर्णस्य च।
माधुर्य्यस्य च मार्दवस्य महतामाध्यान माङ्गल्ययोः
प्रेमस्त्वां स्थिरमाश्रयेत वरदे सीते सुगीते मम ॥ ३९ ॥

हे सीते! हे वरदे! हे सुगीते! शृङ्गार-महोत्सव, आनन्द, ऋद्धि, सिद्धि, सुख, सम्पदा, उत्तमोत्तम राग, सुलक्षण, महान् एवं परिपूर्ण भाग्य, माधुर्य, सुकोमलता, महापुरुषत्व, ध्यान तथा समस्त मङ्गल का निर्मल प्रेम आपके ही अविचल आश्रय पर अवलम्बित है ॥ ३९ ॥

नेत्राली रघुनन्दनस्य वशितं यत्रैति सद्योगिनां
यत्रान्तः करणानि चोपनिषदां हृद्यत्रहृद्यऽर्पितम् ।
गर्वो यत्र च योषितां च गलितोक्षेमःसतां सद्गिरां
तस्मिञ्छ्री चरणेऽनुरागवदहो मद्भाग्यमेतद् अयम् ॥ ४० ॥

नेत्रों के प्रेमपूर्ण कटाक्षों से जो श्रीरघुनन्दन को वशीभूत कर लेती हैं, जहाँ सज्जन एवं योगीजन आकर स्थिर हो जाते हैं, जहाँ उपनिषद् और वेदान्त का हार्दिक रहस्य पूर्ण रूप से प्रकट होता है, जिनके श्रीचरणों में भक्तों ने अपना हृदयगत भाव परम श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक अर्पित कर दिया है, जहाँ सुरसुन्दरी युवतियों का गर्व भी गलित हो जाता है तथा जहाँ सज्जनों की वाणी कल्याणस्वरूप बन जाती है—ऐसे आप श्रीयुगल प्रभु के श्रीचरणों का अनुराग मुझे प्राप्त हुआ, यह मेरा परम अहोभाग्य है, अहोभाग्य है ॥ ४० ॥

स्याद् यद्वा न यदि त्वदीय पदयोः सेवाधिकारो मम
श्रद्धाशुद्धिविहीन दुष्टकलुषप्रायात्म चेतोऽनघे ।
भूयान्मे तव पादपीठ विषयो भूयात्सभूयस्ततः
तेनैवाश्रुमयेवमेव विमलो योग्याचंने मैथिली ॥ ४१ ॥

हे श्रीमैथिलीजू! यदि आपके श्रीचरणों की सेवा का अधिकार मुझे न हो, क्योंकि मैं श्रद्धाशुद्धि से रहित, अत्यन्त दुष्टात्मा और कलुषित हृदय वाला हूँ, तो मुझ पर एक कृपा कीजिए—मुझे आपके श्रीचरणों की खड़ाऊँ (चरणपादुका) ही बना दीजिए। वहीं आपके श्रीचरणों के समीप अपने पापों का स्मरण करते हुए, पश्चाताप के अश्रु बहाते-बहाते, कभी न कभी आपकी अर्चना का अधिकार भी मुझे अवश्य प्राप्त हो जाएगा ॥ ४१ ॥

त्वन्नेत्र द्वयतो यतो निपतति स्वेच्छेरितं देवि ते
कान्तस्त्वापिततस्ततोक्षिपततिं त्वत्केलिकामेरितम्।
किन्नुत्यां त्वदपांग भङ्गविषयो रङ्गोत्सव स्रग्विणी
स्वर्गोऽप्यत्र निमज्जतीति मुनिभिर्ज्ञातोऽस्ति सीतेऽद्भुतः॥ ४२॥

आप अपने दोनों नेत्रों के संकेत से अपनी स्वेच्छा के अनुरूप लीला-कौतुक करने की भावभङ्गी प्रकट करती हैं। आपके प्राणनाथ श्रीराम उस संकेत को समझ लेते हैं और वे भी नेत्रों के संकेत से ही उसका उत्तर देकर इच्छित केलि के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। उस समय ऐसा कौन-सा आनन्द है, जो वहाँ बरस न पड़ता हो? हे रङ्गोत्सवमालिके! उस दिव्य लीला-विलास में तो स्वर्ग का दुर्लभ सुख भी निमग्न हो जाता है। हे सीते! आप युगल प्रभु के इस अद्भुत लीला-विहार का यथार्थ रहस्य केवल वे ही मुनीन्द्रगण जानते हैं, जो उसका आन्तरिक भाव से निरन्तर भजन करते हैं॥ ४२॥

त्वल्लीलामृतसागरे सुरगुरु ब्रह्मेन्द्र रुद्रादयो
दृश्यन्ते परमाणुवत्श्रुतिशतैः सद्भिर्निमग्नास्तटे।
सर्वाहो सुरमीन मण्डलगिलस्तत्रस्तुतो राघवो
मीनेन्द्रो मधुरेश्वर ध्वजगतो ज्ञायेत सीते मया॥ ४३॥

हे सीते! आपके लीलामृत-सागर में सुरगुरु बृहस्पति, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि देवगण भी परमाणु के समान लघु प्रतीत होते हैं। सैकड़ों श्रुतियों का सार प्रतिपादित करने वाले महाविद्वान् भी उस अनन्त लीलामृत-सागर के तट तक पहुँचकर ही उसमें निमग्न हो जाते हैं। हम सब तो आपकी सेवा में निरन्तर विचरण करने वाले मीन-समूह के समान हैं, और माधुर्य एवं ऐश्वर्य की पताका फहराने वाले श्रीराघवजी उस लीलामृत-सागर के मीनेन्द्र के समान प्रतीत होते हैं॥ ४३॥

नैन्दो पूर्णतरेऽपि नापि गवि न द्राक्षादि पाकेषु न
क्षीरोदावपि नेक्षुजातिषु सुधा किंत्वङ्ग जाते तव।
तत्राप्योष्ठपुटेऽस्ति राम महिले साक्षीह रामः सुधीः
प्रष्टव्यस्त्वयि कः रहस्य यमिदं मिथ्या ब्रुवेऽहं यदि॥ ४४॥

हे श्रीराममहिले! शरद्-पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र में, गौदुग्ध में, द्राक्षा के पाक में, क्षीरसागर में, इक्षुरस में—कहीं भी वास्तविक सुधामाधुरी नहीं है। वह दिव्य सुधा तो आपके श्रीअङ्गों में ही विद्यमान है, और उनमें भी सर्वाधिक आपके अधरामृत में ही प्रतिष्ठित है। इस सत्य के प्रत्यक्ष साक्षी स्वयं परमसुधी श्रीराम हैं। यदि मेरे इस कथन में किंचित् भी असत्य हो, तो हे देवि! आप स्वयं अपने प्राणनाथ से पूछ लीजिए कि इस रहस्य का वास्तविक स्वरूप क्या है॥ ४४॥

भ्रामं भ्रामममेषदेश विषये त्वत्यन्त भोगेच्छया
तत्रालब्ध निजार्थितावधिसतां दुर्दूरमेयं मनः।
दैवात्त्वन्नखपद्मराग महसां जालेपतद्विस्तृते
विश्राम्यत्यनवद्य रामरमणे श्रान्तं चिराज्जानकि॥ ४५॥

अत्यन्त सांसारिक भोगों का उपभोग करने की इच्छा से मैं देश-देश और गाँव-गाँव भटकता-भटकता थक गया। अन्ततः मेरे हाथ केवल भीख माँगने का ही धन्धा लगा। मेरा यह मन बड़ा ही दुराग्रही है; किन्तु दैवयोग से आज आपके श्रीचरण-नखों के पद्मरागमय, महान्, विस्तृत एवं सुशीतल जल में परम पावन विश्राम प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे मिल गया है। हे श्रीजानकीजी! अतः आज दीर्घकाल के पश्चात् मेरे चित्त को वास्तविक शान्ति की प्राप्ति हुई है॥ ४५॥

येषु ब्रह्म विरञ्चि रुद्रवपुषो मीना मुदं तन्वते
वागीशादि घनाश्रयाघन रुचः कारुण्य वातेरिताः।
सीतात्मामृत सागरस्य महतो रूपाद्यगाधस्य मा
माप्यायान्तु नियन्तु रन्तिममुदस्तेते कटाक्षोर्मयः॥ ४६॥

जिस श्रीसीतास्वरूप अमृत के महान्, अगाध रूप-गुणादि-सागर में परब्रह्म, ब्रह्मा, रुद्रादि देवता मीन के समान परमानन्द का अनुभव कर रहे हैं, तथा श्रीकिशोरीजी की करुणारूपी मेघमाला में वायु के सहारे वागीश्वरी आदि देवियाँ घनीभूत परमसुख-रस का आस्वादन कर रही हैं, वही श्रीजू का सुधासागर अपने कृपाकटाक्षरूपी उर्मियों से निरन्तर लहराता

हुआ मुझे भी अन्तिम मोद और प्रमोद प्रदान करे तथा अपनी दिव्य तरङ्गों से बारम्बार आप्लावित और सिञ्चित करता रहे॥ ४६॥

यावत्तेन भवेत्प्रसाद सुधयासिक्तः पुमान् यावत
स्तावत्सोस्तमितोत्सवो भुविशवः सायन्ह वश्वानवः।
त्वत्सेवार्थमुपस्थितैस्तव कृपा तीर्थावगाहो ज्वलै
स्पृष्टव्यः पुरुषोत्तमैः कथमयं स्यात्कोशलेशाङ्गने॥ ४७॥

हे श्रीकोशलेन्द्राङ्गने! आपके कृपाप्रसादरूपी सुधा से जब तक मनुष्य अभिषिक्त नहीं होता, तब तक उसका जीवन प्रतिदिन क्षीण होता रहता है—प्रातः नवीन होकर भी सायंकाल तक पुराना हो जाता है। उसका आनन्दोत्सव मानो अस्त ही रहता है; वह पृथिवी पर जीवित रहते हुए भी मृतक के समान जीवन व्यतीत करता है। परन्तु जब वही आपकी सेवा में उपस्थित होता है, तब आपकी कृपारूपी उज्ज्वल तीर्थजल में अवगाहन (स्नान) करते ही वह महान् श्रेष्ठ पुरुषों में भी श्रेष्ठ महापुरुषों द्वारा सम्मानित, प्रशंसनीय और पूछे जाने योग्य बन जाता है। हे श्रीकिशोरीजी! आपका यह कैसा विलक्षण और अचिन्त्य प्रभाव है!॥ ४७॥

मन्वानः सविशेषतोऽखिलमिदं शेषं तवैवस्त्वयं
शेषी सन्नपि शेष भावसरसः सुस्वावतारः सदा।
दत्वानस्तव शेष शेष शरणी साम्राज्य मध्ये वसन्
योऽयोध्यामधि भुज्यते जनकजे रामोऽभि रामस्त्वया॥ ४८॥

हे श्रीजू! सर्वशेषी प्रभु स्वयं यह मानते हैं कि यह सम्पूर्ण अखिल ब्रह्माण्ड आपका ही शेष है। अतः शेषी होते हुए भी वे सरस शेषभाव को धारण कर हम सब, जो उनके शेष हैं, उसी पंक्ति में आकर विराजमान हो जाते हैं और हमारे मध्य रहकर आपकी दिव्य लीलाओं के आनन्द का उपभोग करते हैं। ऐसे अयोध्यापति श्रीराम का भी, हे श्रीजनककुमारीजी! आप ही आनन्दपूर्वक परितोष करती हैं। आपकी इस अद्भुत महिमा का यथार्थ वर्णन भला कौन कर सकता है?॥ ४८॥

अज्ञाना कुधियश्च मत्सरवशावक्तुं न तेऽलं गुणान्
बोद्धारोऽपि च माधुरी गुणधुरा प्रेमांघ्र्य विद्धा भृशम्।
किञ्चिज्ज्ञास्तु स संशयाइति ततः सीते प्रसन्ना सती
तस्यास्ते स्तवने त्वमेव सुगुरुः स्तोतव्यशीले सताम्॥ ४९॥

हे स्वामिनीजू! दुर्बुद्धि से ग्रस्त अज्ञानी लोग ईर्ष्या और द्वेष के वशीभूत होकर आपका गुणगान नहीं कर सकते। ज्ञानी पुरुष आपकी गुणमाधुरी में निमग्न होकर तथा आपके श्रीचरणों के प्रेम में सब कुछ विस्मृत कर देने के कारण भी आपका यथार्थ गुणगान नहीं कर पाते। और जो किञ्चित् ज्ञानी हैं, वे अर्धविदग्ध एवं संशयग्रस्त रहने के कारण आपकी गुणावली का समुचित वर्णन करने में असमर्थ रहते हैं। अतः आपके गुणानुवाद का सामर्थ्य तभी प्राप्त हो सकता है, जब आप स्वयं हृदय में विराजमान होकर सद्गुरुरूप से अपने गुणगान की रीति सिखाएँ; तभी कोई आपके दिव्य सुयश का यथार्थ गान कर सकता है॥ ४९॥

दिव्यापादनखावली मुदति ते श्रीरत्नदीपावली
स्वाद्याविर्हृदि मन्दिरे भगवती देवस्य रामस्य मे।
अज्ञानान्धतमोऽप्यनादि निविडं कर्मादि चक्रादिमं
नश्येद्दास्यनिरोधकं तु मिथिलानाथात्मजे हृद् गतम्॥ ५०॥

हे श्रीमिथिलानाथलाडिलीजू! अनादि कर्मचक्र के घोर अन्धकार से जकड़े हुए मेरे हृदय में आपकी दास्यता का प्रतिबन्धक क्या है, यह खोजने पर भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि भगवान् श्रीराम की कृपा से आपके दिव्य चरणों के नखपङ्क्ति-रूपी श्रीरत्नों की दीपावली मेरे हृदय में आविर्भूत हो जाए, तो मेरे दुर्भाग्य का वास्तविक कारण तथा आपकी दास्यता में जो प्रतिबन्धक है, वह शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो सकता है॥ ५०॥

याः सख्यः कलिताः सता भगवतागस्त्येन ते कोटिश
स्ताभिस्त्वं सममेव नाथदयितं त्वाह्लादयन्ती रहः।
मच्चित्ते स्फुरसुन्दर स्फुट गुणस्मेरायमानानना
नाना भाव विनोदनीह जनकक्षीरोदजे ते सदा॥ ५१॥

श्रीजनकराज रूप क्षीरसागर से उत्पन्न हे श्री जू ! भगवान् अगस्त्य ने अपनी संहिता में आपकी कोटि-कोटि सखियों का वर्णन किया है। वे सभी आपके प्राणनाथ के सहित निरन्तर आपको आह्लादित करती रहती हैं। मेरी भी यही कामना है कि आपकी उस दिव्य झाँकी का दर्शन मेरे चित्त में निरन्तर होता रहे—आपका सुन्दर स्वरूप, सुन्दर गुण, मन्द-मन्द विहँसता हुआ आपका मुखचन्द्र तथा नाना प्रकार के भाव-विनोदों को विकसित करने वाली आपकी मनोहर छवि मेरे हृदय में सदा प्रकाशित रहे॥ ५१॥

या ते पाद सरोज सौरभ शुभा लीला सुधास्वादिनी
रामप्रेम रतोन्मुखीश्वरिगिरा सर्वार्द्रिनीं मादिनीम्।
सावाङ् मद्वदति वदत्वविधुरा माधुर्य धुर्य्या तव
नान्यावागनृतामृताङ्गि सगुणं मूकत्वमेवान्यथा॥ ५२॥

हे श्री किशोरी जी ! जो वाणी आपके चरण सरोज के सौरभ से सुरभित हो, आपकी शुभ लीला रस सुधा का आस्वादन करने वाली हो, श्रीराम के प्रेम में निरत करने वाली हो, ईश्वरों की वाणी को भी मुखरित करने वाली हो, प्रमोन्माद में उन्मत्त बनाने वाली हो, वह माधुर्य्य रस भरपूर पवित्र दिव्य वाणी मेरे मुख से निरन्तर प्रवाहित होती रहे; मेरी यही कामना है। अन्य नाना प्रकार की मिथ्या प्रलाप करने वाली वाणी से तो हे अमृताङ्गी ! मूक ही हो जाना उत्तम है॥ ५२॥

तावद् देवि! धिगेव जन्म जगतां स्वामित्वभाजोऽपि चेत्
स त्वद्दासजनाभिमानगहनो यावन्न रामप्रिये।
त्वत्कैङ्कर्य सुधासरः सरसिजं हंसः प्रसङ्गी न चेत्
काकीयः स नु कर्मतो ऽशुचितमस्त्वद्भक्ति शून्यो यतः॥ ५३॥

तब तक मानव-जीवन में दुविधा बनी रहती है, चाहे उसे समस्त संसार का स्वामित्व ही क्यों न प्राप्त हो जाए। जब तक मनुष्य के हृदय में आपके दासत्व का अभिमान उत्पन्न न हो तथा आपके सुधारस-परिपूर्ण कैङ्कर्यरूपी सरोवर के सेवासुख-स्वरूप कमलों का रसास्वादन करने वाले हंसतुल्य रसिक सन्तों का सत्सङ्ग प्राप्त न हो, तब तक, हे श्रीरामप्रिये! वह कर्म से महाअशुचि, अपावन तथा आपकी भक्ति से शून्य कौए के समान ही समझने योग्य है ॥ ५३ ॥

श्रुत्वा त्वन्महिमानमात्ममहितं क्लीश्येच्छ्रयोऽसूयया
सद्यो नारकि नायकोऽपि स नरः शल्यं हृदिस्थं हि मे।
तं निस्सारय सारतः खलु खलं प्रेत्याय बीजं रुषां
श्रीरामोत्सव रत्न्दीप कलिका माले विशालेक्षणे ॥ ५४ ॥

हे विशालनयनी! जो आपकी महिमा का श्रवण करने पर भी आपके श्रीचरणों की भक्ति नहीं करता, अपितु अपने आत्मकल्याण के मार्ग में स्वयं ही क्लेश उठाता रहता है, तथा आपकी भक्ति से द्वेष करता है, वह नरकवासियों का भी शिरोमणि है। ऐसा मनुष्य मेरे हृदय में कण्टक के समान निरन्तर पीड़ा पहुँचाता रहता है। अतः, हे श्रीरामजी के आनन्दोत्सव की शोभा बढ़ाने वाली रत्नदीपमालिके, हे श्रीकिशोरीजी! ऐसे खल को हमसे बहुत दूर कर दीजिए, जिससे वह पुनः लौटकर हमारे हृदय में रोष और द्वेषरूपी बीज बोने का अवसर न पा सके ॥ ५४ ॥

सीतेति श्रुतिजात सात्विक महाभावानु भावैः परः
सर्वेषामवधीरितेतरगुणः स्वामी स्वतः शाश्वतः।
स्यादेवं न कुतः परः परमिकां भक्तिं गतस्त्वत्प्रदे
सीते निन्दति वा परः कथमिमां प्रामाणिकस्ते कथम् ॥ ५५ ॥

सीते! ऐसे मधुर शब्द का श्रवण करते ही सर्वश्रेष्ठ शाश्वत-अनन्त गुण गणागार स्वामी श्रीराम भी अष्ट सात्विक महाभाव से पूर्ण हो जाते हैं, जब ऐसी बात है तब आपके श्री चरणों में विद्वान पुरुषों की परात्परा प्रेमाभक्ति क्यों नहीं हो जाती है? हे सीते! वे परम भक्तों को

अज्ञानी कहकर निन्दा क्यों करते हैं? यदि ऐसा करते हैं, तब व्यर्थ ही प्रामाणिक वक्ता क्यों कहाते हैं? ॥ ५५ ॥

तत् त्वत्कान्तकथा सुधैक कलयाप्याकीलितोन्मीलितं
यद्यद् वेदपुरःसरं सुमहितं मानं पुराणादिकम्।
तत्तच्च प्रणमामि देवि शिरसा नान्यत्ततो नार्चितं
सीते स्यादनिवार्यमार्य शपथैरेषस्वभावो मम्॥ ५६ ॥

जो-जो वेद, पुराण और शास्त्र आपके तथा आपके कान्त श्रीराम की कथारूपी सुधारस से परिपूर्ण हैं, वे ही मेरे लिए परम वेद्य, मननीय और आदरणीय हैं। उन-उन वेदों, पुराणों और शास्त्रों को मैं मस्तक नवाकर बारम्बार प्रणाम करता हूँ। परन्तु, हे श्रीसीते! जिन ग्रन्थों में आपके गुणानुवाद, लीला तथा दिव्य चरित्र का वर्णन नहीं है, उनके विषय में मैं आर्यपुरुष प्रभु श्रीराम की शपथ लेकर कहता हूँ कि वे मेरे लिए न मान्य हैं, न अर्चनीय हैं और न पूजनीय। मैं क्या करूँ—मेरा स्वभाव ही ऐसा बन गया है कि आपके यश और लीलामृत से रहित किसी भी ग्रन्थ में मेरा हृदय अनुरक्त नहीं हो पाता॥ ५६ ॥

देशे कालमपि प्रजा शुभतमं मन्ये त्वमेवानघे
सीते यत्र कथा तवैव सुधया संस्पर्धमानानघै।
गीयेत प्रतिभूत सात्विक भरैः श्रूयेय सर्वा मया
तावत्तत्र कथेति साधुवचनं संजीवनं स्यान्मम॥ ५७ ॥

हे अनघे! मैं उसी देश, उसी काल और उन्हीं प्रजाजनों को परम शुभ मानता हूँ, जहाँ आपकी कथारूपी सुधा का अतिपावन गान परस्पर प्रेम और उत्साह के साथ निरन्तर होता रहता है, तथा जहाँ श्रोतागण अष्टसात्त्विक भावों से परिपूर्ण होकर प्रेमपूर्वक उसका श्रवण करते हैं। हे श्रीसीते! मुझे भी तब तक उसी स्थान पर निवास प्रदान करें, जहाँ आपके साधुजन आपकी कथामृत का मधुर श्रवण और कीर्तन करते हों। वही कथासुधा मेरे जीवन की संजीवनी-बूटी बन जाए, मेरे हृदय को पवित्र करती रहे और आपकी अविचल भक्ति में मुझे दृढ़ बनाए रखे—यही मेरी विनीत प्रार्थना है॥ ५७ ॥

तां त्वां द्वाःसु च देवतां परतया दृश्यं निवेश्य स्वयं
सीते सर्वपुराण काननिलीनास्यस्य हास्यप्रिया।
त्वत्प्रेयांश्च दुरूह वेदविपिने गुप्तोऽप्यमुक्ते हितः
यद्वत्यातव मृग्यते मुनिजनैः निर्दिष्टयारिष्टया॥ ५८॥

हे सीते! आप ही युगल के मध्य परात्पर देवता हैं। समस्त पुराणरूपी वन में विचरण करने वाले महापुरुषों को अन्ततः यही एक सिद्धान्तरूपी सुखद समीर अनुभव होता है। आपके प्रियतम श्रीराम का स्वरूप वेदरूपी गहन वन में इतने गूढ़ और रहस्यमय रूप से निहित है कि वह सर्वसाधारण के लिए सहज ग्राह्य नहीं हो पाता। अतः आप जैसी हैं, जिस प्रकार मुनिजन आपको जानते और अनुभव करते हैं, उसी निर्दिष्ट मार्ग एवं तत्त्वज्ञान का कृपापूर्वक हमें भी बोध कराइए, जिससे हम भी आपके यथार्थ स्वरूप का यथाशक्ति अनुभव कर सकें॥ ५८॥

निर्मर्यादमवाधवाह ममृतं षाड्गुण्यमित्थं हरेः
स्यादित्थं तु तवापि वामनयने वैदेहि वेद्यावधिः।
चारुस्मेर मुखि प्रशान्त हृदये साधारणैस्ते गुणै
रुद्भूतैस्तु पुरस्कृतैः प्रतिहतं स्पष्टावभासं न तत्॥ ५९॥

निस्सीम, बाधारहित दिव्यामृतमय श्रीहरि का षड्गुणैश्वर्य वास्तव में कैसा है—यह यथार्थ रूप से कोई कह नहीं सकता। उसी प्रकार, हे वामनयने! हे श्रीवैदेही! आपका परम ऐश्वर्य भी अनिर्वचनीय है। आप ही ज्ञान की परम सीमा और पराकाष्ठा हैं। हे परमसुन्दर हास्यमुखारविन्दे! यदि किसी परमशान्त हृदय में आपके उन असंख्य दिव्य गुणों में से किसी एक साधारण-से गुण का भी उदय हो जाए, तो उसके पूर्वजन्मों एवं इस जन्म के समस्त असत्कर्म नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वे पुनः उसके समीप आने या अपनी छाया तक डालने का सामर्थ्य भी नहीं रखते॥ ५९॥

वेदैरग्नि पुरस्सराः हि मुखरादुच्यन्त एव स्थिराः
किं त्वेते बहिरेव दुग्धघृतवत् मर्त्यैश्च तेभ्योन्तरः।
दृष्टादृष्टतयैव सर्वकरणी सर्वाविधिर्यन्मत
स्तत् तेऽपांग विभाग रंग महिना दृष्टो मया मैथिली॥ ६०॥

अग्निपुरस्सर वेदमन्त्रों द्वारा वन्दित देवगण ही स्थिर एवं श्रेष्ठ हैं—ऐसा लोक में कहा जाता है। परन्तु क्या वे मनुष्यों से उसी प्रकार सर्वथा पृथक् हैं, जैसे दूध से निकला हुआ घृत? इस विषय में मन में शंका उत्पन्न होती है कि क्या वास्तव में मनुष्यों और देवताओं में इतना बड़ा भेद है? यदि कोई यह कहे कि दृष्ट और अदृष्ट—दोनों प्रकार के कर्म ही इस भेद का कारण हैं, तो मेरे मत में, हे मैथिलीजी! ये सभी भेद-विभाग वस्तुतः आपकी कृपादृष्टि की महिमा के ही विविध रंग और तरंग हैं॥ ६०॥

वेदा धर्मपरा इतीश्वरमतं लीलापरा इत्यपि
स्यादेवं निगमः प्रमाण सुगमः किन्तुद्वयंयत्तयोः
दृष्टं तत्तु तवैव देवि कमितुर्विस्तीर्णपूर्णं हि ते
तोषायालमिदं तवेति विषये सीते त्वमेवोत्तरम्॥ ६१॥

कोई कहते हैं कि वेद धर्म और कर्म की विवेचना करने वाले हैं, तो कोई कहते हैं कि वेद तो जगदीश्वर के लीला-विहार का ही वर्णन करते हैं। यदि ऐसा है, तो इन दोनों मतों का निर्णय करने में वेदवाक्य ही सर्वोत्तम प्रमाण है। किन्तु जब इन दोनों के गूढ़ रहस्य का विचार किया जाता है, तब, हे देवि! स्पष्ट रूप से यही अनुभव होता है कि यह समस्त प्रयास आपकी ही विस्तीर्ण एवं पूर्ण महिमा का यथाशक्ति निरूपण करने के लिए है। अतः वेदों का वास्तविक अभिप्राय भी अन्ततः आपकी महिमा के प्रकाशन में ही पर्यवसित होता है। इसलिए आपके विषय में यथार्थ रूप से क्या समझना चाहिए, इसका समाधान तो, हे सीते! केवल आप ही अपनी कृपा से करा सकती हैं॥ ६१॥

क्रीडानांतु पुराण वित्तवपुषामस्यात्मनां सर्वथा
कर्तृत्वं विषयत्त्वमण्यभिमतं पत्युस्तवैवेश्वरैः।
संज्ञा राम इति प्रतीत विदिता मुख्यामवापैष यत्
तद् ज्ञेयं त्विदमेव नाम मधुरं सीते हरेर्नामसु ॥ ६२ ॥

जिनकी अन्तरात्मा में आप सदा विराजमान हैं, ऐसे आपके प्राणवल्लभ श्रीराम ही इस सम्पूर्ण जगत् की लीला के कर्ता, धर्ता और नियन्ता हैं—ऐसा वेद-पुराणों के विज्ञ विद्वानों का अभिमत है। उनका नाम 'राम' है, यह भी सर्वविदित है, और जगत् के ईश्वर कहलाने वाले ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र का भी यही मन्तव्य प्रतीत होता है। किन्तु इस समस्त तत्त्व का मुख्य रहस्य यह है कि भगवान् हरि के अनन्त नाम होते हुए भी उनका यथार्थ ज्ञेय और परम मधुर स्वरूप, हे सीते! आपके नाम से ही पूर्णतः प्रकाशित होता है। यह भी सर्वविदित है कि भगवान् के नाम, रूप, लीला और महिमा की यह समस्त मधुरता आपके मुख्य सहयोग, आपकी अनुग्रहशक्ति और आपके दिव्य सान्निध्य का ही परम मधुर फल है ॥ ६२ ॥

ब्रूवानेव न केवलं किलसितो धर्मैस्त्वयाह्लादनैः
किं त्वारादवतार जातमपिते नेतूरिरंसो सिमम्।
विश्वं तस्य च देवता अपि गुणैः सत्वादिभिर्यत् सिता
स्तत् सीतेत्यभिधास्ति ते भगवति श्रीरामचन्द्रेन्दिरे ॥ ६३ ॥

आपके प्रियतम श्रीराम की जो मधुरता सिता-मिश्री के समान मानी जाती है, वह भी आपके आह्लादादि दिव्य धर्मों के संयोग से ही प्रकट होती है। उनके अवतार के अनन्तर आपका अवतरण भी तत्काल हुआ; उसका कारण भी उनकी माधुर्यता को पूर्ण रूप से विकसित करना ही है। इसी प्रकार यह विश्व तथा उसके देवता भी सत्त्वादि गुणों के कारण जो मधुरता प्राप्त करते हैं, वह भी 'सीता' नाम से ही अभिहित होती है। अतः, हे भगवति! हे श्रीरामचन्द्रजी की इन्दिरा! 'सीता' नाम की वास्तविक अभिधा, उसका परम अर्थ और पूर्ण तात्पर्य तो केवल आप ही हैं ॥ ६३ ॥

सिद्धायाः स्वत एव सर्वविभवैः सीतेतवात्युच्छ्रतै
रङ्गस्पर्श सुधारसानुभवता पुष्टिं परां विभ्रता।
त्वत्कान्तेन तु पोष्यते जगदिदं रक्षादि दक्षेण च
त्वत्तोषैक मनोरथेन विभुना कष्टं त्वदाराधनम्॥ ६४॥

हे सीते! आपका सर्ववैभव स्वतःसिद्ध है और आपके ही द्वारा परम उत्कर्ष को प्राप्त है। आपके दिव्य देह के सुधारस-परिपूर्ण स्पर्श का अनुभव प्राप्त करके स्वयं श्रीरङ्गप्रभु भी परम पुष्टि और परमानन्द को प्राप्त होते हैं। आपके इसी दिव्य बल और अनुग्रह को प्राप्त कर आपके कान्त सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करने, उसका पालन-पोषण करने तथा उसे सुचारु रूप से संचालित करने में समर्थ होते हैं। वे सर्वशक्तिमान् विभु भी आपको प्रसन्न करने का मङ्गलमय मनोरथ निरन्तर करते रहते हैं। तब भला अन्य साधारण जीवों के लिए आपकी आराधना कितनी कठिन और दुष्प्राप्य होगी—यह सहज ही समझा जा सकता है॥ ६४॥

यद्यतज्जगदम्ब वा न भजते दोषा ततः किं स्वतः
स्वानन्दस्वविलास दिव्यचरितं स्वाम्यादि भङ्गो भवेत्।
येषां भाग्यमुदेत्य हेतुकुमुदे ते तु त्वदादेशगा
किं किं कुर्वत एव पर्वतसुतापत्यादि सर्वार्च्चिते॥ ६५॥

हे जगदम्बा! यदि इस जगत् के लोग आप युगल प्रभु का भजन नहीं करते, तो उसमें आपका क्या दोष है? इससे न तो आपके दिव्य चरित्र की स्वतन्त्र महिमा का ह्रास होता है और न ही आपके परम स्वामित्व में किसी प्रकार का भङ्ग होता है। जिनका भाग्य उदित होता है, वे ही अनायास आपके भजनानन्द की प्राप्ति करते हैं और आपकी दिव्य आज्ञा का पालन करने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। हे सर्वार्चिते! हे सर्वपूज्ये! इसी कारण पार्वतीजी आदि देवियाँ भी अपने-अपने पतियों सहित आपकी नाना प्रकार से सेवा करती हैं और आपके अनुग्रह की अभिलाषा रखती हैं॥ ६५॥

सत्यस्नेह सिताः परव्यवसिताः सीते सुरैः सम्मता
निर्दोषामृत सेव्य दास्य रसिका ये सेवका तेःस्तुते।
दुर्दैव प्रतिमल्ल शल्य शकना शिष्टानु शिष्टाक्षमा
जीयन्ते न परैः परावरपति प्रेयस्य श्रेयोस्पृशः ॥ ६६ ॥

जो सत्य और स्नेह से अभिषिक्त हैं, जो परोपकार में निरन्तर अनुरक्त रहते हैं, जो आपके दास्यरस के परम रसिक हैं तथा आपकी सेवारूपी निर्दोष अमृत को ही अपना परम सेव्य मानते हैं—ऐसे ही आपके सेवक, हे सीते! देवताओं द्वारा भी सम्मत सच्चे सज्जन हैं। वे दुर्दैव और अभाग्य के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी, हृदय के शल्य और कण्टकों का नाश करने वाले तथा शिष्टजनों को भी शिक्षित करने में समर्थ होते हैं। वे किसी अन्य के आश्रय पर जीवनयापन नहीं करते; अपितु परावरनाथ आपके प्रियतम श्रीराम के श्रेय और आपके अनुग्रह का स्पर्श पाकर ही अपने जीवन को धन्य मानते हैं ॥ ६६ ॥

रूपैश्वर्य विभूति धर्मगुणिषु स्वाद्येषु तेषु स्वतो
रूपं तद्गुण राशयोऽपि तु यथा मह्यं स्वदन्ते तथा।
नान्येनन्य गुणस्वरूप विभवैश्वर्यादि साम्राज्यके
सीते! रूप गुणस्वभावसुधया संतर्पणीयो जनः ॥ ६७ ॥

रूप, ऐश्वर्य, विभूति तथा धर्मादि गुण अपने आप में स्वतः आस्वादनीय नहीं होते। उनका वास्तविक माधुर्य तभी प्रकट होता है, जब वे आपके दिव्य स्वरूप, गुण और अनुग्रह से सम्बद्ध होते हैं। इसी कारण रूप तथा उसके अन्य समस्त गुणों की राशियाँ भी अन्ततः तुच्छ और असार प्रतीत होने लगती हैं। अतः, हे सीते! इस अपने सेवक को अन्यान्य रूप, विभव, ऐश्वर्य और साम्राज्य के वैभव में विमुग्ध न होने दें; अपितु अपने ही दिव्य रूप, गुण और स्वभाव की सुधामाधुरी से सदा सन्तृप्त करती रहें—यही मेरी विनीत प्रार्थना है ॥ ६७ ॥

दासीनामपि ते तु रूपविभवो गीर्भ्योऽपि दूरे सतां
तत्रैषामपि देवरूप सुषमा सीमेति भूमा भ्रमः।
सीमा या हि तवैव ताः स्तुतिगिरो जातावकाशास्त्वयि
स्वां निष्ठामभियान्ति पंक्तिकगुणाः सर्वेऽपि सीते ततः ॥ ६८ ॥

आपकी दासियों के भी रूप, गुण और वैभव का यथार्थ वर्णन सज्जनों की वाणी के लिए भी अवर्णनीय है। तब देवताओं के रूप को ही "सुषमा की सीमा" मान लेना उचित नहीं है। वास्तविक सीमा तो आपकी ही है। आपकी स्तुति करते-करते जब वाणी भी थककर विश्राम चाहती है, तब वह एकनिष्ठ होकर आपके ही चरणों में स्थित हो जाती है और आपके चारों ओर गुणगणों की पंक्तियों के रूप में सुशोभित होने लगती है। हे सीते! आपके अनन्त गुणों की पराकाष्ठा का वर्णन करने में स्वयं वाणी भी अपनी सीमा स्वीकार कर लेती है॥ ६८॥

त्वत्सेवास्थित तावकीन गुणवत् सारूप्यरूपा तु ते
कर्त्तव्योत्सव कारिणीषु युवयोर्नित्यानु कूलास्तु ते।
दासीषु प्रतिरूपभाव विषया बुद्धिर्न जायेत ते
कैश्चित्स्वैर्हि गुणैः सुधाधिकतमैर्भेदेऽपि सीते स्थिते॥ ६९॥

आपकी सेवा में रहने वाली सारूप्यादि मुक्तियाँ भी आपके ही गुणों के अनुरूप स्वरूप धारण कर आप युगल प्रभु के आनन्दोत्सव की वृद्धि करती हुई नित्य आपकी अनुकूल आज्ञाकारिणी बनी रहती हैं। आपकी कृपा से भेद रहते हुए भी वे आपके ही समान प्रतीत होती हैं; तथापि कहीं आपको उनमें अपने ही प्रतिरूप का भाव न हो जाए, इसीलिए, हे सीते! वे आपकी सेवा-साधना में दत्तचित्त होकर निरन्तर संलग्न रहती हैं॥ ६९॥

दासी दासरसाश्रया अपि तव स्त्रीरत्नभूताः सुरैः
सेव्या स्युः सुलभा न ते सुवयसस्तेषामपि प्राणताम्।
ईशा मोहयितुं सुरासुरमुनीन् कर्तुं च कार्यं तव
त्वत्कीर्तीन्दु करानिजाः परिकराः क्षेमंकरा भूसुते॥ ७०॥

दासी-दासभाव के रसाश्रय को प्राप्त कर जो-जो भाग्यशाली स्त्रीरत्न आपका सेविका-स्वरूप धारण करके आपकी सेवा में निरन्तर स्थित रहती हैं, वे उच्चकोटि के देवताओं द्वारा भी सुसेव्य होती हैं। ऐसा पद प्राप्त कर लेना अत्यन्त दुर्लभ है, सहज सुलभ नहीं। वे सुर, नर, मुनि तथा ईश्वरों को भी मोहित करने में समर्थ आपकी इच्छा के अनुसार ही कार्य करती

रहती हैं। हे भूमिसुते! वे आपकी परिकर-सेविकाएँ आपकी कीर्तिरूपी चन्द्रमा की किरणों के समान सदैव परम कल्याणकारिणी होती हैं॥ ७०॥

यान्यङ्गान्यनुभूयते हि ललनाः कान्तत्वकामास्तु ते
कान्तांङ्गान्यपि तेऽनुभूय च तथा तद्भाव भावाकुलाः।
यद्येप्येवमथापि तासु तव किं कोयोऽन्यया वा मतिः
किन्तु त्वत्स्मित केलयोऽस्ति यदिदं श्रीजानक्यंशक्रिये॥ ७१॥

आपके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की अलौकिक शोभा और सुन्दरता का अनुभव करके परिचर्या-परायण ललनाएँ आपमें अपने कान्त का भाव कर भावविभोर हो जाती हैं। उसी प्रकार आपके प्राणनाथ श्रीराम के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य का अवलोकन करके वे उनके भाव में भी उसी प्रकार तन्मय हो जाती हैं। यद्यपि ऐसा ही होता है, तथापि आपमें और आपके प्रभु में जो परस्पर प्रेम, भावुकता और अन्योन्य अनुराग की अनिर्वचनीय पराकाष्ठा है, उसका पार कोई नहीं पा सकता। आपके तथा आपके प्राणनाथ के प्रति उनकी इस प्रेमाधिक्यता का भी यही कारण है कि वे सभी आपकी ही अंशजा हैं॥ ७१॥

दृष्ट्वा त्वं मुकुरे तवापि न भवेन्मोहोऽहमेषा न वा
स्यामित्थं कथमद्भुतेऽति मधुरेऽत्यन्तं च रूपान्वयात्।
आत्मीयैः परिचारिकैस्तु सगुणैर्याति प्रहासोत्सवं
कृत्वा सन्न सखी व्रजस्य जनक प्रेमास्पदा शंकिते॥ ७२॥

हे श्रीजनकजी की परम प्रेमास्पदा श्रीकिशोरीजू! जब आप दर्पण में अपने मुखचन्द्र की छवि का अवलोकन करती हैं, तब कभी-कभी आपको भी यह मधुर सम्भ्रम हो जाता है कि दर्पण में दिखाई देने वाली यह प्रतिछवि क्या वास्तव में मेरी ही है, अथवा किसी अन्य की? ऐसा क्यों होता है? इसका कारण आपके स्वरूप की अद्वितीय एवं अतुलनीय मधुरता ही है। इस रहस्य का बोध भी आपको तब होता है, जब आपकी इस मोहिनी अवस्था को देखकर आपकी अन्तरङ्ग सखियाँ मन्द-मन्द हँसने लगती हैं और आनन्दोत्सव मनाती हैं। तब आपके पूछने पर वे ही आपकी उस मधुर शङ्का का विनोदपूर्वक निवारण करती हैं॥ ७२॥

सत्स्नेहोघननीलिमार्य ऋजुता लूतोर्ण सौक्ष्म्यं शुभं
दैर्घ्यं संहतिराक्षरी ध्रुवपदं व्योमामलत्वं श्रुतेः।
ऐकाग्र्यं च मनोज्ञगन्धमृदु ते जाति सरोज स्रजोः
संस्पृष्टास्तव कुन्तलैरितिगुणा दोषैर्वृता जानकि॥ ७३॥

हे श्रीकिशोरीजी! आपके पावन केशों का स्पर्श पाकर मेघ ने चिकनाई और नीलिमा, मकड़े के जाल ने कोमलता और सूक्ष्मता, अक्षरों ने माङ्गलिकता, दीर्घता तथा संहिता (परस्पर ऐक्यता), आकाश ने स्थिरता और निर्मलता, तथा जूही, कमल एवं पुष्पमालाओं ने मनोहर सुगन्ध, मृदुलता और एकाग्रता प्राप्त की है। हे श्रीजानकीजी! इस प्रकार जिन वस्तुओं में स्वभावतः कुछ दोष भी विद्यमान थे, वे भी आपके संसर्ग से गुणमय होकर शोभायमान हो गई हैं॥ ७३॥

स्वाङ्गे नीलमणित्विषि प्रति कलत्सीतेस्मितं ते सितं
दृष्ट्वा त्वद्वदनेऽपि चन्द्रवदने कस्मादियं चन्द्रिका।
इत्यालोचन लग्न मञ्जु मनसं कान्तं विभान्तं पुर
स्त्वं तत् कौतुकिनीतरां प्रहससि प्रेम्णेस्थितं स्वेवशे॥ ७४॥

अपने श्रीअङ्ग में नीलमणि की कान्ति के समान श्यामल छटा तथा आपके मुखचन्द्र पर मन्द-मन्द प्रस्फुटित उज्ज्वल मधुर हास्य को देखकर आपके प्राणनाथ के मन में यह विचार उदित होता है—"क्या यह आपके चन्द्रवदन की चन्द्रिका ही चारों ओर बिखर रही है?" इस प्रकार के मञ्जुल भाव में निमग्न होकर उनके नयन आपके सौन्दर्य में एकटक स्थिर हो जाते हैं। तब अपने सम्मुख टकटकी लगाए निहारते हुए प्रियतम को अपने प्रेम में पूर्णतः वशीभूत देखकर आप भी केलि-कौतुक करती हुई प्रसन्नचित्त से मन्द-मन्द मुस्कराने लगती हैं। हे देवि! आपका यह दिव्य प्रेम-रहस्य हमारा सदैव परम सुमङ्गल करता रहे॥ ७४॥

गुप्तौमुख्यसुधा घटावुरसि ते सिन्धुस्सुधांमथ्नता
कान्तेनामरदैत्य मोहन कृता कृत्वान्यथा तां सुधाम्।
तं एवामृत भाजने यदनुसंधत्ते करेणैव तत्
सत्त्यं सूचयतीदमित्यनुकलं स्नेहस्नुतेसीतिके॥ ७५॥

समुद्र-मन्थन से प्राप्त अमृत द्वारा आपके प्रियतम ने देवताओं और दैत्यों—दोनों को विमोहित कर उस अमृत को तुच्छ एवं निस्सार सिद्ध कर दिया था। जिन करकमलों से उन्होंने उस अमृत-कलश को रिक्त कर दिया था, उन्हीं करकमलों से मानो उसे दिव्य सुधा-रस से पुनः परिपूर्ण भी कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि वही दिव्यामृत से भरे हुए युगल-घट आपने अपने हृदय में सुरक्षित रख छोड़े हैं। हे सीते! आपके हृदय से जो स्नेहरूपी सुधा निरन्तर बरसती रहती है, वही वास्तविक और परम अमृत है। इसी कारण आपने उसे अपने हृदय में गुप्त रखा है, जिससे अवसरानुसार अपने प्रियतम को वही परम अनुकूल दिव्यामृत प्रदान करती रहें॥ ७५॥

वेदान्तार्क विकासनीय महिमानंहो गुणात्माम्बुजो
योऽलं नः परिरक्षितः स तु तयापाङ्गेषु पंगूकृतः।
तेनेषु स्मरसेवकेषु बलिभुक्तवत्स्वामिके जंगमे
रक्ष्येरन्परिचारिकास्तव कथं रामत्रिवर्गेश्वरि॥ ७६॥

वेदान्तरूपी सूर्य से विकसित होने वाले आपकी महिमा तथा आपके समस्त आत्मीय गुणरूपी कमलों को हम अपने अन्तःकरण में सुरक्षित रखे हुए थे; परन्तु आपके इस दिव्य मङ्गलमय विग्रह की कान्ति ने उन सबको भी मानो पङ्गु बना दिया है। अर्थात् हम आपके विषय में जितना समझते थे, उससे अनन्तगुणा अधिक अलौकिक प्रभाव और अद्भुत प्रतिभा का अनुभव अब प्रत्यक्ष हो रहा है। अतः उन्हीं आपके दिव्य गुणों के प्रभाव से, हे श्रीसीते! आप अपने स्वामी श्रीराम से हम सेवकों की रक्षा कराइए। हम सब तो आपकी परिचर्या में निरत परिचारिकाओं के समान हैं; इसलिए, हे श्रीसाकेतधामेश्वरी! आप हमें अपनी कृपा से कैसे विस्मृत कर सकती हैं?॥ ७६॥

वेदान्तै प्रतियत्न कर्म निपुणैर्ये ये गुणादर्शिता
भर्तुस्ते परमात्मधाम भगवच्छब्दादिशक्यस्य ते।
ते ते स्युः परिहास केलिरसवाः सीतेऽसिताक्षि क्षणं
यद्वा ते बहिरङ्ग सङ्गिजनतास्तिक्यादि मर्त्यैर्मताः॥ ७७॥

वेदान्त ने भवबन्ध-विमोचन में समर्थ जिन-जिन गुणों और कर्मों का प्रतिपादन किया है, वे परमात्मा, परमधाम, भगवान् आदि शब्दों के वाच्य रूप में आपके भर्ता श्रीराम में पूर्णतः विराजमान हैं। परन्तु रसिकजन अन्तरङ्ग लीला-विलास की दृष्टि से उन सबको आपके परिहास, प्रेम तथा रस-केलि की वृद्धि का साधन मानते हैं; अथवा यह भी मानते हैं कि वे बहिरङ्ग भक्तों की आस्तिकता, श्रद्धा और विश्वास को दृढ़ करने के लिए ही प्रकट किए गए हैं॥ ७७॥

यः स्वामी जगतामनादिपुरुषः सोऽयं त्वयैवेकया
नारीनाथकतांगतो हतरिपु र्लब्ध्वा त्वयोध्यापुरम्।
निर्व्याजं नरचन्द्र राम रतिदे लोकोऽपि योषिदयुतो
नस्यां किं तव दासवृत्ति विधया नार्यानियोन्योऽनिशम्॥ ७८॥

जो अनादि पुरुष, सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं, जिनके शत्रु विनष्ट हो गए और जिन्हें अयोध्या का राज्य पुनः प्राप्त हुआ, वे भी अन्ततः एक आपके ही होकर "नारीनाथ" कहलाए। हे श्रीसीते! ऐसे नरचन्द्र श्रीराम को प्रेमरस प्रदान करने वाली आप ही हैं। इसी प्रकार लोक में जितने भी स्त्री-संयुक्त पुरुष हैं, उनकी पत्नियाँ भी आपकी दास्यवृत्ति की भावना में निरत रहती हैं। इस प्रकार वे सब अपनी-अपनी स्त्रियों के माध्यम से, जो आपकी सेवा-भावना से प्रेरित हैं, वस्तुतः आपकी ही सेवा कर रहे हैं—ऐसा ही प्रतीत होता है॥ ७८॥

एको यः पुरुषोत्तमः सुपुरुषोयोन्योऽपि पूर्वस्त्वया
नीतो पूर्वगुणैरपूर्व विधता मन्त्यः प्रकृत्यापि सः।
एवं दासिकया सहैव तु तया सीते समा शाश्वती
काण्डानां प्रकरोत्वशत्रु भवती राज्यं विराजार्चिता॥ ७९॥

एकमात्र पुरुषोत्तम प्रभु ही वास्तविक पुरुष हैं। अन्य समस्त चेतनों को भी आपने पूर्वकाल में अपने अपूर्व गुणों से संयुक्त प्रकृति के द्वारा पुरुषभाव प्रदान कर उनकी सेवा के लिए नियोजित किया है। उन्हीं के सहयोग और सेवाभाव से आप अपने प्रियतम को शत्रुरहित बनाकर, दास-दासियों सहित अखण्ड राज्य में पूजिता रूप से विराजमान करती हैं। हे सीते! इस प्रकार आप अपने प्रियतम के साथ दीर्घकाल तक दिव्य राज्य-सुख और लीला-आनन्द का उपभोग करती हैं॥ ७९॥

आक्रष्टुं त्वमिवप्रियस्य हृदयं मायापि धर्मैः स्वकै
र्यत्तस्मादुपतिष्ठते लिखति तद्भोग्यं ललाटे पटे।
जीवस्यैव तदीय संगतरते राजेन्द्र रामेरिके
द्दष्ट्वात्त्वद् गुण रूप वैभवद्दशोदेवः स ते वल्लभः॥ ८०॥

हे राजराजेन्द्रश्रीरामवल्लभे! आपको आकृष्ट करने के लिए ही भगवान् श्रीराम भक्तों के हृदय को मोह-माया से रहित देखकर उन्हें अपना बना लेते हैं और उन भाग्यशालियों के ललाट-पटल पर मानो यह लिख देते हैं कि "यह आपकी सेवा और सान्निध्य के योग्य है।" तभी उन जीवों के हृदय में आपकी सङ्गति का दिव्य प्रेम उदित होता है। तब आपके प्राणवल्लभ श्रीराम भी उनके भीतर प्रकट हुए आपके रस, रूप, गुण और वैभव का अवलोकन कर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं॥ ८०॥

नित्यापि प्रकृति र्विरोधविकृति र्क्लेशादि दोषात्यया
ज्ञानानन्द गुणप्रकाश विशदा दिव्येति या विश्रुता।
सापि प्राणपतेस्तवोत्सवकरी प्रायेण सीते पितु
ध्वस्तात्यन्ततमो निदान मनसां मुक्तात्मनां भुक्तये॥ ८१॥

हे सीते! आप नित्य एकरस स्वरूपिणी हैं; तथापि लोग कहते हैं कि विरोध, विकृति और क्लेश आदि दोष प्रकृतिजन्य हैं। परन्तु यथार्थतः आपकी प्रसिद्धि तो ज्ञान, आनन्द, प्रकाश आदि विशद दिव्य गुणों के अनन्त भण्डार के रूप में है। अतः जो परस्पर-विरुद्ध धर्म आपके स्वरूप में दृष्टिगोचर होते हैं, वे वस्तुतः आपके प्राणवल्लभ श्रीराम के आनन्दोत्सव की वृद्धि के लिए आपकी स्वीकृत दिव्य लीलाएँ ही हैं। आपकी इन अलौकिक लीलाओं का अनुभव

करने से मुक्तात्माओं के मन का घोर अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है और वे भी आपके दिव्य आनन्द तथा सेवासुख का अनुभव करने लगते हैं ॥ ८१ ॥

प्रेयस्येव तव स्वरूप सहजंपुंस्त्वं यथा जानकि
स्त्रीत्वं च प्रकृति वियुक्तमृषिभिः स्त्वय्येव संभावितम् ।
सत्यं तत्त्वदुपासनैक नियतं सर्वासु विद्यासु यद्
विद्या त्वं च तथा यतो यदभिधा विद्येति विद्येश्वरि ॥ ८२ ॥

जैसे आपके प्रियतम का सहज एवं नित्य स्वरूप 'पुरुष' है, वैसे ही, हे श्रीजानकीजी! महर्षियों ने प्रकृतिरूपा आपका स्त्रीस्वरूप निश्चित किया है। परन्तु यथार्थ सत्य यह है कि आपकी उपासना में प्रतिपादित समस्त विद्याओं में, हे विद्येश्वरी! आप ही श्रेष्ठतम विद्याओं की स्वरूपा हैं। इसी कारण आप 'महाविद्या' नाम से अभिहित एवं सुप्रसिद्ध हैं ॥ ८२ ॥

सीते चेन्न भवेर्विलास बहुला जीवानुकम्पाकुला
कस्यस्याद् विनिवेषणीय चरणौ वैदेशिको देशिकः ।
तर्हित्वद् रमणोऽनुभाव भरणः स्वातन्त्र्यतंत्र्यः स्वतः
प्राप्यैश्वर्यगुणस्वरूप सुखभुग्ध्येयः प्रसङ्गोद्धुतः ॥ ८३ ॥

हे सीते! यदि आप लीला-विलास का विस्तार करके जीवों पर अनुकम्पा न करतीं और उनके उद्धार के लिए व्याकुल न होतीं, तो इस संसार में किसके श्रीचरणारविन्द उपासनीय होते? आचार्यों का भी परमाचार्य कौन कहलाता? तब आपके प्रियतम श्रीराम भी स्वतः सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होते हुए भाव और अनुभाव की पूर्ण मधुरता से कैसे विभूषित होते? यह सब आपकी ही कृपा का मधुर फल है कि वे आपकी गोद में विहार करते हुए सर्वैश्वर्य, समस्त दिव्य गुणों तथा परम आनन्द के भोक्ता बनकर सम्पूर्ण जगत् के परम ध्येय रूप में प्रतिष्ठित हैं ॥ ८३ ॥

सर्वासूपनिषत्सु ते प्रणयिनं दूराति दूरे रह
स्तिष्ठन्तं वदतीष्वपीश्वरनुतेसीते स्वयालीलया।
सर्वेषां सकलेन्द्रियानुगुणतां प्रत्यानियेथाः कथं
किं तेऽन्यद्यदशक्यमस्ति भवतां मध्ये विधातुं सुधीः ॥ ८४ ॥

हे सीते! आपके प्राणनाथ का स्वरूप सभी वेदान्तों और उपनिषदों की श्रुतियों के लिए भी दुरातिदूर एवं दुर्गम कहा गया है। तथापि, हे ईश्वरों द्वारा वन्दनीय चरणवाली! हे श्रीकिशोरीजू! आप अपनी दिव्य लीला के प्रभाव से सभी जीवों को उनकी-उनकी इन्द्रियों एवं पात्रता के अनुरूप आपके प्राणवल्लभ के साक्षात्कार का अनुभव करा देती हैं। वस्तुतः, आपके लिए कौन-सी ऐसी वस्तु है जो अशक्य हो? इसी कारण सुधी पुरुष यह मानते हैं कि आप युगल प्रभु के लिए सब कुछ शक्य, सहज और सुलभ है; आपके सामर्थ्य के सामने कोई भी कार्य असम्भव नहीं है ॥ ८४ ॥

सापत्न्येन सहत्वयोपनिषदो वर्त्तन्त इत्याविधेः
सर्वज्ञेतनु केन दृष्ट महिता काण्डे त्रिकाण्डीति ते।
किन्तु त्वां त्वदसुप्रियं च विमते रक्षन्ति शिक्षोद्यताः
सर्वेषामधिकारिणामिति कृपा तास्वप्यकम्प्यास्तु ते ॥ ८५ ॥

उपनिषदों की श्रुतियाँ आपके साथ मानो सापत्न्य-भाव रखकर आपके प्राणप्रिय प्रभु की महत्ता को इतना अगम्य बताती हैं कि "उनका यथार्थ स्वरूप कौन सर्वज्ञ जान सकता है?"—ऐसा उद्घोष त्रिकाण्डात्मक वेदत्रयी में सर्वत्र सुनाई देता है। किन्तु यह भी उचित ही है, क्योंकि इस प्रकार वे आपको तथा आपके प्राणप्रियतम को अनधिकारियों की पहुँच से सुरक्षित रखती हैं। परन्तु, हे श्रीजू! हमारी तो यही विनीत प्रार्थना है कि आपके लिए योग्य और अयोग्य—सभी जीव आपकी अनुकम्पा के पात्र हैं। आपकी कृपादृष्टि तो सब पर समान रूप से रहती है; अतः आपकी कृपा का अधिकार भी सभी को प्राप्त होना चाहिए ॥ ८५ ॥

मञ्जीरामर दुंदचभिध्वनिहताराति किरांते तरां
श्रीधामावधिकामपूर सुरभि छायातपत्रोत्सवाम्।
सीते सिद्ध सुधावटोदक सुखा दिव्यद्रुमाँश्चाश्रिता
त्वत्पादानुगतिं प्रमाणपथिका तान्त्यश्रमा निर्भ्रमाः ॥ ८६ ॥

देवताओं को लोग अमर कहते हैं; परन्तु वे भी अप्सराओं के मञ्जीरों की ध्वनि और शत्रुओं की रणदुन्दुभि के नाद से व्याकुल हो उठते हैं। उनके धाम लक्ष्मी-सम्पन्न हैं, उनके पास कामधेनु है, कल्पवृक्ष है, और वे उसकी छाया में आनन्दोत्सव भी मनाते रहते हैं; तथापि वे पूर्णतः निर्भय नहीं हैं। वास्तविक निश्चिन्तता और अखण्ड आनन्द उन्हें भी तभी प्राप्त होता है, जब वे आपके चरणारविन्दों की सिद्ध-सुधारूपी दिव्यामृत-माधुरी का रसास्वादन करते हैं और आपकी सेवा-पथ के पथिक बन जाते हैं। तभी वे भ्रम और श्रम से रहित होकर वास्तविक दिव्यानन्द का अनुभव करते हैं ॥ ८६ ॥

सीतेतेंऽघ्रितलांक सौभगवशां पश्यंस्तदेतद् धनं
भाग्यादात्म भुवैवभूरि लिखितं भाले ममेवैति च।
मत्वामोद मदस्मित स्फुरतरद्भूदृक् कपोल स्थलो
दृष्टो देवि तवानुकूलदयितो दिव्यात्म दर्शीश्वरैः ॥ ८७ ॥

हे श्रीसीते! आपके श्रीचरणों के नखों का अनुचर बनने का जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, उसी को मैं अपना परम धन मानता हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने मेरे भाग्य में इसी महान् सौभाग्य को मेरे ललाट पर स्पष्ट रूप से अंकित कर दिया है। अतः मैं इसे ही अपना सर्वस्व समझकर परम प्रसन्न रहता हूँ। और जब मैं आपके स्मितहास से स्पन्दित अधरों, मनोहर भृकुटी तथा कपोलस्थल का दर्शन करता हूँ और देखता हूँ कि आपके प्राणनाथ श्रीराम उन सबका अवलोकन कर सर्वथा आपके अनुकूल एवं प्रेममय बने रहते हैं, तब यह विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है कि वे दिव्यात्मदर्शी प्रभु मुझ पर भी अवश्य कृपालु हैं। यही विचार मेरे आनन्द को और अधिक बढ़ा देता है ॥ ८७ ॥

लिङ्गेषु स्वकर स्वपादतल संलग्नेषु वै सक्षणः
सौभाग्याधिक शंकयाधिकगुणाः श्रीदिव्यमूर्त्तेऽस्तु ते।
रन्ता तेऽवनिजे रहस्तव सखी र्लक्ष्माणि ते पृच्छति
श्रुत्वा तानि ततस्त्वदीय जनता सीमां स्वमालोकते ॥ ८८ ॥

अपने करकमलों से जब आप अपने चरणतलों पर अंकित ताजे शुभचिह्नों का अवलोकन करती हैं, तब आपकी दिव्यमूर्ति में निहित अनुपम सौभाग्य और दिव्य गुणों की परिपूर्णता स्वयं प्रकट हो उठती है। इसी से, हे श्रीकिशोरीजी! आपकी सखियाँ मधुर सम्भ्रम के साथ आपसे पूछती हैं—"ये नवीन चिह्न कैसे प्रकट हुए? क्या ये प्रियतम के साथ विहार करने के कारण बने हैं?" उनकी इस प्रेममयी जिज्ञासा को सुनकर उपस्थित जनसमाज भी आपके निस्सीम सौभाग्य का दर्शन कर परम आह्लादित हो उठता है ॥ ८८ ॥

सीते स्फीतमुखेन्द्र संभृत सुधामापीयपीनो हि ते
कोप्यन्योऽस्ति न वा ममैव सदृशः स्वामीति मीमांसते।
तर्ह्यन्योऽपि च सीतयैव सदृशी स्याच्चेत्तु नारी तरा
मामाहुः श्रुतयो स्वतः पर इति स्वं निश्चिनोतीति च ॥ ८९ ॥

हे सीते! आपके दिव्य मुखचन्द्र की सुधामयी माधुरी का रसपान अपने प्रियतम को कराने वाली आप ही हैं। उस दिव्यानन्द में निमग्न होकर आपके स्वामी बार-बार विचार करते हैं—"इनके समान दूसरी कौन है? यदि सीता के सदृश कोई अन्य नारी है, तो हे श्रुतियो! मुझसे स्पष्ट कहो।" तब श्रुतियाँ स्वयं परात्पर तत्त्व का निश्चय करके यही प्रतिपादित करती हैं कि आपके समान कोई अन्य नहीं है; यही आप युगल का परम एवं अद्वितीय स्वरूप है ॥ ८९ ॥

त्वत्कान्तेन समाधिकोऽपि च ततो नारी समावाधिका
त्वत्तोऽन्यापि मृषेत्यभाव हृदया वैदेहि देहीश्वरी।
अद्वैत श्रुतयः प्रियस्य च तवा तुल्याधिकत्वं जगु
र्मिथ्या विश्वमिति श्रुतेर्न वचनं स्वस्यापि शांत्याद्भुते ॥ ९० ॥

आपके प्रियतम से न कोई उत्तम पुरुष है और न उनके समान कोई अन्य पुरुष; उसी प्रकार आपसे न कोई उत्तम नारी है और न आपके समकक्ष कोई दूसरी। हे वैदेही! हे देहेश्वरी! इस भाव को हृदय में स्थिर करके अद्वैत-प्रतिपादिका श्रुतियों ने आपकी तथा आपके प्रियतम की अन्यूनाधिक समता का ही प्रतिपादन किया है। अतः श्रुतियों का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि यह विश्व मिथ्या है; और न ही उन्होंने ऐसा अपनी शान्ति की प्राप्ति के लिए कहा है। उनका वास्तविक तात्पर्य तो आपके युगल स्वरूप की अभिन्न, अन्यूनाधिक एवं परात्पर महिमा का प्रतिपादन करना ही है॥ ९० ॥

एकैकस्य चिरंतनात्स्वगुणतोऽप्यद्वैतमंगस्य ते
धृत्वा धी जननी सतां जनकजे द्वैत श्रुतिःसात्विकी।
भक्तानामुपपद्यते मतिमतां भेदांश्च सद्भासती
स्याद द्वैतश्रुतिरप्यथाङ्ग विधया सत्यैव सार्थामिथः॥ ९१ ॥

अपने एक-एक चिरन्तन गुण से परस्पर अभिन्न आपके दिव्य अङ्गों का विचार करके, हे जनकजे! सज्जनों की अधिष्ठात्री माता सरस्वती सात्त्विकी, द्वैत-प्रतिपादिका श्रुतियों की भी प्रशंसा करती हैं। क्योंकि उन्हीं के द्वारा भक्तों और मतिमान् विद्वानों को आपके तथा आपके प्रियतम के भेदाभेदमय लीला-विहार का रहस्य उद्घाटित होकर उसके आमोद-प्रमोद का परमानन्द प्राप्त होता है। अतः द्वैत-प्रतिपादिका श्रुतियाँ भी पूर्णतः सार्थक हैं और सत्य का ही प्रतिपादन करती हैं; क्योंकि वे आपके गौर-श्याम, स्त्री-पुरुष आदि दिव्य भेदों के अनुरूप आपकी लीला की वास्तविकता का निरूपण करती हैं॥ ९१ ॥

अङ्गानां तव सज्जनैरुत सतां मैत्री हृतांगैर्मिथो
वैषम्येऽपि गुणैः प्ररोचन गुणस्तेषां च साधारणः।
अन्योन्यं तव तार हार तुलनां प्राप्याङ्ग सन्दर्भणं
सीते किञ्चिदलौकिकं सुकृतिनं याति प्रियैक व्रती॥ ९२ ॥

सज्जन हों या असज्जन, मित्र हों अथवा शत्रु—इन सब प्रकार की विषमताओं के रहते हुए भी आपके गुणों की मधुरता सभी को, यहाँ तक कि सर्वसाधारण को भी, परमानन्द प्रदान करती है। हे प्रियतम को प्रसन्न करने का एकमात्र व्रत धारण करने वाली! यद्यपि आप

युगल में अन्यूनाधिक समता ही है, तथापि आपकी कुछ ऐसी अलौकिक एवं विलक्षण माधुरी है, जो सुकृतिजन को अद्वितीय और अनुपम आनन्द का अनुभव कराती है ॥ ९२ ॥

शब्दस्पर्श मुखास्तु पञ्चविषया भक्तैर्यदर्थी कृता
स्त्याज्यास्तेऽपि न सन्ति ते प्रणयिना दृष्टायदिष्टाऽपि च।
दिव्यास्त्वत्तनुसंगिनोऽनतिशयाः सीते कथं तेऽमुना
त्याज्यास्ते हि चिदर्गला नव नवाऽनन्दोह मानर्गलाः ॥ ९३ ॥

शब्द, स्पर्श, रस, रूप आदि पाँच विषयों को वैराग्यनिष्ठ जिज्ञासुओं ने यद्यपि त्याज्य बताया है, तथापि भक्तजनों द्वारा आपके दिव्य भावों से युक्त होकर अंगीकृत किए गए ये विषय त्याज्य नहीं माने जाते। क्योंकि जिन्हें आपके प्रियतम श्रीराम ने स्वीकार किया है और जो आपके दिव्य लीला-विहार के परम आनन्द को प्रदान करने वाले हैं, वे त्याज्य कैसे हो सकते हैं? त्याज्य तो वे विषय हैं जो अनियन्त्रित सांसारिक भोगों में प्रवृत्त कर मन में नये-नये विकारों को उत्पन्न करते हैं ॥ ९३ ॥

नैकेऽपि स्थुरणो रणीयसि यथा दिव्यागुणा भर्तरि
श्रौते श्रान्ति हरिं हरार्चितपदे मध्येऽपि ते स्युस्तथा।
निश्चेयो सदगोचरेऽपि च सतां कार्यानुमेयेरणत्
काञ्चीरत्नरु मुज्वले रवि कलालङ्कार तंकाय हे ॥ ९४ ॥

आपके भर्ता में अणोरणीयान् आदि दिव्य गुणों का अभाव नहीं है; तथापि श्रौत-स्मार्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले कुछ लोग उन्हें निर्गुण, निराकार और सर्वगुणातीत कहते हैं। हे हरिहरार्चित चरणकमलवाली श्रीजू! जो प्रभु अगोचर, अगम्य और अप्राप्य कहे जाते हैं, वही भक्तवत्सल और करुणानिधान के रूप में प्रसिद्ध हैं। यह सब आपके दिव्य काञ्चीरत्न के समान उज्ज्वल गुणों के संस्पर्श और संस्कार से ही उनकी माधुरी का प्राकट्य है ॥ ९४ ॥

सीते सन्तत सम्मताम्बर वरालङ्कार संस्कारिके
स्वानन्दैक निमग्न मानस पतेनेत्रप्रकाश प्रदाः।
यत्रेमास्तव काल दोष कवला कल्पोज्वला दीप्तय
स्तत्रासौ स्फुरदिन्दु भानुभ तडिज्ज्योति निषेधश्रुतिः॥ ९५॥

प्राणपति को सदैव अत्यन्त प्रिय लगने वाले वस्त्र और अलङ्कारों से अपने श्रीविग्रह को सुशोभित करके, एकमात्र स्वानन्द में निमग्न रहने वाले प्रभु के नेत्रों को प्रकाश प्रदान करने वाली आप ही हैं। हे श्रीसीते! जहाँ आनन्दकल्प के समान उज्ज्वल आपकी दिव्य दीप्तियाँ प्रकाशित होती हैं, उस परम धाम में सूर्य, चन्द्र, विद्युत् अथवा अन्य किसी लौकिक ज्योति की आवश्यकता नहीं रहती। इसी कारण वे निषेधात्मक श्रुतियाँ भी सार्थक होती हैं, जो वहाँ इन बाह्य प्रकाशों के अभाव का वर्णन करती हैं॥ ९५॥

काञ्च्याद्यारणनं चरङ्गकरणं मंजीर मंजुध्वनिं
श्रोतुं त्वां रमणे विहार पतिते सामादिगानोद्गतिम्।
संगीतं सुरसेवितं च समये सीते विदूरे भजन्
व्यर्थं तन्न च सर्वथा सुकुरुते मानार्ह मानप्रदः॥ ९६॥

आपकी दिव्य काञ्ची (करधनी) नूपुर कङ्कण आदि की मंजुल ध्वनि, जो आनन्द विहार के समय होती है उसको सुनकर सामगान की मधुरता तथा सुर सङ्गीत की स्वर लहरी दूर ही भाग जाती है। यह उनका कार्य कुछ व्यर्थ नहीं है क्योंकि जो सम्मान के योग्य हैं उनको मान प्रदान तो करना ही चाहिये अर्थात उनके लज्जित होकर भाग जाने से आपकी मधुर ध्वनि की महत्ता ही बढ़ती है॥ ९६॥

साधर्म्यं पदवाप्तमात्ममननात्सर्वात्मना तन्मयात्
स्यादित्येव परीक्षितुं तव सखी कान्तो यदा श्लिष्यति।
एकैकां विविनक्ति चान्यवनिवां त्वत्साम्य संकीर्तियत्
तत्ते मर्म तुदं च नर्म मधुरा मुग्धासि यन्मैथिली॥ ९७॥

आपके स्वरूप का निरन्तर मनन करते-करते सर्वात्मना तन्मय होकर जिन सखियों ने आपके समान भाव और स्वरूप की प्राप्ति कर ली है, उन्हें आपके प्रियतम कभी-कभी भ्रमवश आप ही मानकर आलिङ्गन कर लेते हैं। परन्तु जब उन्हें यह ज्ञान होता है कि वे आपके समान तो हैं, किन्तु वास्तव में आप स्वयं नहीं हैं, तब वे अन्य-अन्य सखियों को भी उसी भाव से आलिङ्गन करते हैं। यह प्रसंग सामान्य स्त्रियों के हृदय में मार्मिक पीड़ा उत्पन्न करने वाला हो सकता है; परन्तु हे मैथिली! आप तो इतनी सरल और मुग्धा हैं कि उस समय भी अपनी मधुर नर्म मुस्कान के साथ प्रसन्न होकर हँसती ही रहती हैं॥ ९७॥

ये भोगा उपकारकाश्च युवयोस्तेषां च ते तेऽपियन्
नामा सा अवधेश्वरेश्वर मनः कान्तेति सत्वं कथम्।
एतज्जानकि गम्यते स्वदयितच्छाया निषेधश्रुते
र्न च्छायातव वल्लभोप्यसुलभः कस्यापि देवस्य तु॥ ९८॥

जो-जो सुख और भोग आपके युगल प्रभु के आनन्द की वृद्धि करने वाले हैं, वे भी आपके प्राणपति अवधेश्वर को आपके बिना प्रिय नहीं लगते। इसका मूल कारण, हे जानकीजी! केवल आप ही हैं। निषेध-विधि रूप श्रुतियाँ भी आपको आपके प्रियतम की छाया अर्थात् अनुगामिनी के रूप में वर्णित करती हैं; अतः आपके अनुगमन करने वाले वे भी आपकी छाया के समान ही प्रतीत होते हैं। यही वास्तविक तत्त्व है। परन्तु, हे देवि! वे स्वयं आपकी छाया होकर भी देवताओं के लिए सहज सुलभ नहीं हैं, तब आपकी प्रत्यक्ष प्राप्ति तो अत्यन्त दुर्लभ ही है॥ ९८॥

आसङ्गात्त्वयि तस्य तावकवपुः सारूप्य लाभो न यत्
तस्मिंस्तेन तवापि तस्य वपुषः सारुप्य लब्धिर्न यत्।
सीते सत्यदशावतोऽस्तु वपुषोः कोऽपि स्वभावो ह्ययं
नैवं चेत्क्षणिकत्वमेव हि तयोस्तच्चात्मनोपीष्यताम्॥ ९९॥

आपकी निरन्तर सङ्गति प्राप्त होने पर भी श्रीराघवेन्द्र को आपके सारूप्य का लाभ आज तक प्राप्त नहीं हुआ है; उसी प्रकार आपको भी उनके स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। हे सीते! यथार्थ बात तो यह है कि आप दोनों के दिव्य श्रीविग्रहों में एक

स्वाभाविक भिन्नता सदैव बनी रहती है। यदि ऐसा न होता, तो आपके और उनके नित्य स्वरूप में भेद का अभाव होकर क्षणिकत्व का दोष प्रतीत होने लगता॥ ९९॥

तुष्टिः श्रीस्तव तन्निलीय हृदये सत्यात्परं ब्रह्मण
रन्यत्रश्रुतिभिर्निषेध विधिवागास्ये च चाशास्यते।
भूत्वाभिर्भ्रमरीभिरद्भुत मुखांभोजे पुनर्मृग्यते
तासां तेन विना न शर्म सुलभं क्वापीति भातीह मे॥ १००॥

हे श्रीजू! उस सत्यं-परं-ब्रह्म को अपने हृदय में अन्तर्हित करके ही आपको परम सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अन्यत्र निषेध-विधि वाक्योपदिष्ट श्रुतियों द्वारा भी यही उपदेश किया गया है कि प्रभु के अतिरिक्त कहीं भी प्रीति नहीं करनी चाहिए। अतः आपकी सखियाँ आपके मुखारविन्द की भ्रमरी बनकर पुनः-पुनः आपकी ही अभिलाषा करती हैं; आपके बिना उन्हें कहीं भी कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि वे आपके स्वरूप में ही युगल-छवि का दर्शन करती हैं, इसलिए अन्यत्र कहीं भी उन्हें सुखदायक कुछ दिखाई नहीं देता॥ १००॥

यः शृङ्गार रसो गुणैस्तु रसिकैरुत्कृष्यते सर्वतः
सोऽलीभूत तनुस्तवाङ्घ्रि कमलं गुंकारवाचाञ्चति।
तत्रस्थापि तयैव तस्य विहिता स्थायीति भावाभिधा
स्थायी निर्भय एक एव चरणः सीते यतस्ते सदा॥ १०१॥

आनन्दमय एवं रतिप्रद गुणों के कारण जिस शृङ्गार रस को सर्वोत्कृष्ट कहकर सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, उसी शृङ्गार रस के मूर्तिमान् स्वरूप श्रीश्यामसुन्दर भी आपके श्रीचरणकमलों में भ्रमर बनकर गुञ्जार करते हुए आपकी अर्चना करते हैं। पुनः उन्हीं चरणों में स्थिर होकर उन्होंने स्थायी रस के भाव की मर्यादा को प्रकट किया है। हे श्रीजू! इस प्रकार ऐसी दिव्य लीला के द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण जगत् को यह शिक्षा दी है कि आपके श्रीचरणकमल ही सदा के लिए स्थायी, निर्भय और परम आश्रय का एकमात्र स्थान हैं॥ १०१॥

यस्य स्युः सहसा प्रसाद दिशयाप्यानन्दिनोऽयेश्वराः
सोऽपि श्रीःसतनुत्वदानन नवाम्भोज प्रसाद स्पृहः।
स्वात्मेशस्य सदात्मनातिशयितोत्कर्षावहे सर्वतः
कोऽन्यस्तेनमुखप्रसाद विषय प्रत्याशया कृष्यते॥ १०२॥

जिनकी अकस्मात् प्रसादोन्मुख कृपादृष्टि को देखकर समस्त ईश्वर भी परमानन्द में विभोर हो जाते हैं, वह भी, हे श्रीजू! आपके परम सुन्दर मुखकमल के प्रसाद की ही अभिलाषा रखते हैं। अपने प्राणेश्वर के सदैव आत्मीय एवं परमोत्कृष्ट सुख की सर्वत्र वृद्धि करने वाली आपसे बढ़कर दूसरा कौन है? जो केवल अपने मुख की प्रसन्नता और मधुर मुस्कान के द्वारा ही अपने प्रियतम को अपनी ओर पूर्णतः आकृष्ट कर सके॥ १०२॥

श्रुत्योक्त्या यद्वाक्य नादरतया स्तब्धोयदात्मप्रिय
स्तत्त्वत् संतति बन्धनं जनकजे सत्यं त्विदं वच्मि ते।
मह्यं कुप्यतु वा प्रसीदतु भवत्यात्मानुकुल्योन्मुखी
सीते ! त्वां शिरसैमिनेमनयनान्मन्तुं निहन्तुं क्षमाम्॥ १०३॥

श्रुतियों की मधुर उक्तियों के नाद के श्रवण में निरत आपको देखकर आपके प्राणप्रियतम भी स्तब्ध रह जाते हैं। वेद की ऋचाएँ जो आपके प्रियतम के अगाध ऐश्वर्य का वर्णन करती हैं, वह भी वास्तव में आपकी सङ्गति और आपके दिव्य प्रभाव के कारण ही करती हैं—हे सीते! मैं आपके सम्मुख यह सत्य ही कहता हूँ। अपने प्रियतम के पक्ष में मेरी बात सुनकर आप चाहे मुझ पर प्रसन्न हों अथवा क्रुद्ध, हे मृगनयनी! आप मेरी इस धृष्टता को क्षमा करके स्नेह-दुलार प्रदान करें या "ऐसा क्यों बोलते हो?" कहकर दण्ड दें—यह सब आपकी ही कृपा और इच्छा पर निर्भर है॥ १०३॥

श्रीमानेष पुमाँस्त्वयैव हि सदैवास्तीति चैनं सदा
कृत्वा मूर्द्धसु नीचदुर्मति रिपुन् जेतुं दरिद्रानलम्।
वेदा देवि कुतो न दाशरथिना त्वल्लाभलाभेन हि
को विद्वान्ननु नाथवाँस्तु भवितुं यो नोत्सहेताऽखिलः॥ १०४॥

परब्रह्म श्रीराम को "ये श्रीमान् हैं" ऐसा जो कहा जाता है, उसका कारण आप श्रीस्वरूपिणी का सदैव उनके साथ प्रियतम भाव से विराजमान रहना ही है। इसी कारण वे नीच, दुर्बुद्धि और शत्रुओं को भी अपने शिर पर स्थान देकर उनका उद्धार करते हुए दरिद्रता रूपी दावानल को शांत कर देते हैं। हे देवि! जब दशरथनन्दन चक्रवर्ती राजराजेश्वर श्रीराम भी आपके द्वारा ही परम लाभ और पूर्णता को प्राप्त करते हैं, तब कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा जो आपकी शरण प्राप्त करके स्वयं को सनाथ करना न चाहे? अर्थात् कौन आपके श्रीचरणों में सम्पूर्ण उत्साह और समर्पण भाव से अपना सर्वस्व अर्पित करना नहीं चाहेगा? ॥ १०४ ॥

ना प्रीतिःपरमा तु राग रचना साध्येति सिद्धोदिता
सातत्याहत लोप सादि च सुखा तेनैव लभ्येति किम्।
तामादातुमनस्तया सुमननाः पादोपसन्ना हि ते
सीते ! संसदि दीयतेऽत्र सपथोऽन्यत्रापि चेदुच्यताम्॥ १०५॥

जो प्रीति परम रागानुरागमयी है, वही परम साध्य है—ऐसा सिद्ध सन्तों ने प्रतिपादित किया है। जो अविच्छिन्न तैलधारा के समान अखण्ड रूप से प्रवाहित रहती है और कभी लुप्त नहीं होती, वही दिव्य प्रेम जब हृदय में प्रकट होता है, तभी परम आनन्द की प्राप्ति होती है। उस परम प्रेमस्वरूपा भक्ति को प्राप्त करने के लिए ही विचारशील साधक आपके श्रीपादारविन्दों का आश्रय ग्रहण करते हैं। हे श्रीसीते! वह परम प्रेममयी भक्ति केवल आपकी कृपा से ही प्राप्त हो सकती है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। यह बात मैं सभा में शपथपूर्वक कहता हूँ—यदि इसका कोई दूसरा मार्ग हो तो आप ही कृपा करके बताइये॥ १०५॥

लक्ष्मीस्ते करवारिजे स्थितिमती यल्लोक संजीवनी
तस्या वेदितु पद्मधारणमिदं लक्ष्म्यापि संलक्ष्यकम्।
ज्ञात्वैतत् सहनायकैस्तव करच्छायाश्रयं ते सुराः
सीते ! हन्तु वराक इत्यनधिकृद्यत् कुंकुमाणं श्रये॥ १०६॥

लोक में जो अमृतस्वरूपा सञ्जीवनी मानी जाती हैं, वे श्रीलक्ष्मीजी भी आपके हस्तकमल में ही निवास करती हैं। यही रहस्य समस्त लोकों को प्रकट करने के लिए आपने अपने

हाथ में कमल धारण कर रखा है, जिससे संसार यह समझ सके कि कमलनिवासिनी लक्ष्मी भी आपके करकमल में ही स्थित हैं। आपके प्राणनाथ श्रीराम के सहित समस्त देवगणों ने भी यही जानकर आपके सङ्ग में आपके करकमलों की छत्रछाया का आश्रय ग्रहण किया है। हे सीते! यह तुच्छ चरणाश्रित सेवक भी यही सत्य समझकर आपके कुङ्कुमरञ्जित अरुणाभ नखों का आश्रय पाकर स्वयं को धन्य मानता है॥ १०६॥

यत्ते भ्रू सदृशं शशाक न धनुर्बाणा तथामात्मकान्
निर्यातुं मदनो मदैक सदनो जातः श्रमः शीतये।
विघ्नस्तत्कुसुमायुधो जनि जगज्जेतुं जनेशात्मजे !
त्वन्माला वलितानि तान्यपि दिवो दिव्यानि दिव्योत्सवे॥ १०७॥

मद से भरे हुए मतवाले मदन (कामदेव) ने आपकी भौंहों के समान अपने धनुष-बाण बनाने के लिए बहुत परिश्रम किया, परन्तु वह सफल न हो सका। तब अपने श्रम को शान्त करने के लिए, हे श्रीराजकुमारीजू! वह आपके श्रीचरणों का स्पर्श करती हुई पुष्पमाला का आश्रय लेकर कुसुमायुध के रूप में देवताओं के मध्य विराजमान हुआ है। हे दिव्य उत्सवानन्द प्रदायिनी! मैं तो यही जानता हूँ कि आपके श्रीचरणों का आश्रय पाकर ही कामदेव भी अपनी शोभा और सामर्थ्य को प्राप्त करता है॥ १०७॥

भव्यं भीरु विभर्तु भावुकवरो भर्ता सहस्रं दृशां
दृग्भ्यामेव तवैव तस्य तु परं नेत्रप्रकाशोत्सवः।
"भासा यस्य विभाति सर्व" भुवनान्यस्यापि मानं हि ते
भासा भूमिसुते ! वदामि न मृषा त्वत्पादपद्मेति तत्॥ १०८॥

हे प्रेमभीरु! अत्यन्त भावुक हृदय वाले आपके प्रियतम प्रभु जब अपने दो नेत्रों से आपके स्वरूप-सौन्दर्यरूपी सुधा-रस का पूर्ण पान करने में असमर्थ हो गए, तब उन्होंने सहस्र नेत्रों का स्वरूप धारण करके आपके दिव्य नेत्रों के सुप्रकाशित उत्सव का आनन्द प्राप्त किया। अतः वेदों ने जिसका वर्णन किया है—"यस्य भासा सर्वमिदं विभाति"—अर्थात् जिसके प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, वह परम प्रभा भी, हे श्रीभूमिनन्दिनीजू!

वास्तव में आपके ही श्रीचरणकमलों की दिव्य ज्योति का प्रकाश है। मैं यह बात किंचित् मात्र भी असत्य नहीं कहता॥ १०८॥

"नैकाकी रमते" परो हि स इति श्रुत्याऽद्वितीयात्मवान्
युक्तो यो भवितुं त्वयार्हति सदा यत् सद्वितीयः स तत्।
दिव्यां ज्योति तमन्तरेण रमणं न स्यादिति प्रज्ञया
त्वं रामेति मता स राम इति यः सीते ! समैषी श्रुतिः॥ १०९॥

लीजिए! और भी कुछ सुनिए—"स एकाकी न रमते" यह श्रुतिवचन स्पष्ट रूप से अपने समान ही रमण करने योग्य किसी अनुपम द्वितीय आत्मा की आवश्यकता को प्रकट करता है। वह योग्य एवं सुन्दर द्वितीय आत्मा आपके बिना अन्य कोई हो ही नहीं सकती; उस परम योग्यता को धारण करने वाली केवल आप ही हैं। दिव्य ज्योति के बिना वास्तविक रमण सम्भव नहीं है—इस विचार से भी यही सिद्ध होता है कि आप ही रामा हैं और वे राम हैं। हे सीते! इस रहस्य के बिना इस श्रुतिवाक्य की पूर्ण संगति सम्भव नहीं हो सकती॥ १०९॥

श्रुत्यानन्त पदेन दर्शितपदो यो दिव्यरूपः पुमान्
हृद् वाग्भ्योप्युपरि स्थितादनवधेर्दुस्तार रूपादसौ।
सीते ! पश्य दृगञ्चलात्तव कियन्मात्रं तु दूरं व्रजे
देशादेश परिच्छिदा रतिकृते तत्तानवद्यं समम्॥ ११०॥

पुनः श्रुति-वेद ने उस परब्रह्म को अनन्त नाम से प्रकट किया है। वह अनन्त स्वरूप वाला दिव्य पुरुष भी आपके अपरम्पार, दुस्तर और निस्सीम स्वरूप की सीमा को न पाकर तन, मन और वचन से आपकी ही परिधि में स्थित रहता है। हे श्रीसीते! देखिए तो, वह अनन्त भी आपके नेत्रों के कटाक्ष से कभी किंचित् मात्र भी दूर जा पाता है क्या? यह अनन्त तो आपके नेत्रकमल के एक अंश में ही निरन्तर निवास करता है। अतः उनका और आपका निर्दोष आनन्त्य समान ही है; अथवा आपकी अनन्तता उनसे भी अधिक है—इसका निर्णय तो केवल आप ही कर सकती हैं॥ ११०॥

आनन्दं सुविदन् विभेति न कुतश्चिन्चेतियश्रूयते
त्वत्सम्बन्ध निबन्धनं तदिति श्रीरामस्य कामेश्वरि।
सत्यं सद्वदनेच्छुतं सुवदने ! वैदेहि ! वेदस्तुते !
कान्यास्यात् सुसमृद्धिरस्य तु विना त्वां देवि ! कालत्रये॥ १११॥

एक श्रुति कहती है—"आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" अर्थात् उस ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके विद्वान् पुरुष किसी से भी भयभीत नहीं होता। वेद का यह वचन भी निश्चय ही आपके ही सम्बन्ध से सम्बन्धित है। हे श्रीरामजी की सर्वकामना पूर्ण करने वाली! हे श्रीवैदेहीजू! यह परम सत्य है कि ब्रह्म का वह आनन्दस्वरूप वास्तव में आपका ही मुखारविन्द है। क्योंकि, हे सुन्दरमुखी! वेदों द्वारा परम स्तुत्य श्रीकिशोरीजू! आपके बिना उनके आनन्द की वृद्धि करने वाली त्रिकाल में अन्य कौन हो सकती है? अतः वेदों का यह निर्णय कि परब्रह्म की आनन्दस्वरूपा आपका ज्ञान प्राप्त करना ही भय से मुक्त होकर परम आनन्द को प्राप्त करना है—यही इसका वास्तविक तात्पर्य है॥ १११॥

त्वत्पादाम्बुज सङ्गतः सुरभयो वेदा इतीमान् पुमान्
जिघ्रन् जानकि ! नन्दति प्रियतमां त्वां स्तावयस्तैरया।
कृत्या शासन लेखकाँस्तव पुनस्तानेव मानेन ते
पुष्णांश्च स्वविभूति भोग निवहान् भूयान्न आनन्दनः॥ ११२॥

आपके श्रीचरणारविन्द का संसर्ग पाकर जो सुगन्ध-लहरी प्रवाहित हुई, वही "तस्य निःश्वसिता वेदाः"—अर्थात् उनके निःश्वास से प्रकट हुई वेदवाणी के रूप में प्रसिद्ध हुई। हे श्रीजानकीजी! यही कारण है कि परम प्रियतम आपके सौरभ का आघ्राण करने और आपके प्रीतिरस का आस्वादन करने की इच्छा से निरन्तर आपके अनुराग में निमग्न रहते हैं। उन्हीं के शासन से शास्त्रकारों को भी शास्त्र-मर्यादा का विधान आपकी अनुकूलता के अनुसार ही करना पड़ता है। यथार्थतः आपकी निज विभूति के सौरभ से सम्पन्न दिव्य भोग ही पुष्परूप हैं, जिनकी मकरन्द-माधुरी प्रभु सहित प्रेमी परिकरों को निरन्तर आनन्द प्रदान करती रहती है॥ ११२॥

इदमिदमिदमार्ये स्तोत्ररत्नं त्वदीयं
श्रृणु-श्रृणु-श्रृणु आर्ये रामदेवस्य देवी !
कुरु-कुरु कुरु दासे स्तोत्तरीशे प्रसादं
हर-हर-हर तस्याज्ञान मादं विषादम् ॥ ११३ ॥

हे आर्ये! यही, बस यही आपका स्तोत्ररत्न बारम्बार सुन-सुनकर, श्रीरामदेव की दिव्य देवी हे श्रीकिशोरीजू! इस दास को अपने आँचल की छत्रछाया का प्रसाद प्रदान करिये, प्रदान करिये, निरन्तर प्रदान करिये। तथा इसके अज्ञान से उत्पन्न विषाद, अभिमान आदि दोषों का हरण करिये, हरण करिये, हरण करिये। यही आपके श्रीचरणों में मेरी बारम्बार प्रार्थना है ॥ ११३ ॥

इति श्रीनिरुक्त लक्षण संहितायां श्रीसीतास्तवः (श्रीजानकी परत्वप्रकाशः) सम्पूर्णः।

यह "श्रीनिरुक्तलक्षणसंहिता" का "श्रीसीतास्तव" "(श्रीजानकीपरत्वप्रकाश)"
नामक स्तोत्र सम्पूर्ण हुआ।